श्रीअष्टपाहुड

अनुक्रमणिका

दर्शन-पाहुड

1-01) मंगलाचरण
1-02) दर्शन-रहित अवन्दनीय
1-03) दर्शन रहित चारित्र से निर्वाण नहीं
1-04) ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता
1-05) सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं
1-06) सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है
1-07) सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता
1-08) दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं
1-09) दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना
1-10) दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं
1-11) जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है
1-12) दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की विनय करें
1-13) दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं
1-14) सम्यक्त्व के पात्र
1-15) सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय
1-16) कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन
1-17) सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है
1-18) जिनवचन में दर्शन का लिंग
1-19) बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि
1-20) सम्यक्त्व के दो प्रकार
1-21) सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार
1-22) श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व
1-23) दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना
1-24) यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि
1-25) इसी को दृढ़ करते हैं
1-26) असंयमी वंदने योग्य नहीं
1-27) इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
1-28) तप आदि से संयुक्त को नमस्कार
1-29) समवसरण सहित तीर्थंकर वंदने योग्य हैं या नहीं
1-30) मोक्ष किससे होता है?
1-31) ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना
1-32) इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
1-33) सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य
1-34) सम्यक्त्व का माहात्म्य
1-35) स्थावर प्रतिमा
1-36) जंगम प्रतिमा

सूत्र-पाहुड

2-01) सूत्र का स्वरूप
2-02) सूत्रानुसार प्रवर्तनेवाला भव्य
2-03) सूत्र-प्रवीण के संसार नाश
2-04) सूई का दृष्टान्त
2-05) सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी
2-06) दो प्रकार से सूत्र-निरूपण
2-07) सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि

2-08) जिनूसत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं
2-09) जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि
2-10) जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा
2-11) मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति
2-12) उनकी प्रवृत्ति का विशेष
2-13) शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्त्रधारी इच्छाकार योग्य
2-14) इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप
2-15) इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं
2-16) इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश
2-17) जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप
2-18) अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष
2-19) इस ही का समर्थन करते हैं
2-20) जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य
2-21) दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का
2-22) तीसरा लिंग स्त्री का
2-23) वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं
2-24) स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण
2-25) दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित
2-26) स्त्रियों के निशंक ध्यान नहीं
2-27) सूत्रपाहुड का उपसंहार

चारित्र-पाहुड

3-01-02) नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा
3-03) सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप
3-04) जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है
3-05) दो प्रकार का चारित्र
3-06) सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार
3-07) सम्यक्त्व के आठ अंग
3-08) इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा
3-09) सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा
3-10) सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं
3-11-12) सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न
3-13) सम्यक्त्व कैसे छूटता है?
3-14) सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है?
3-15) अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश
3-16) फिर उपदेश करते हैं
3-17) यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है
3-18) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं
3-19) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष
3-20) सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं
3-21) संयमाचरण चारित्र
3-22) सागार संयमाचरण
3-23) इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है?
3-24) पाँच अणुव्रतों का स्वरूप
3-25) तीन गुणव्रत
3-26) चार शिक्षाव्रत
3-27) यतिधर्म
3-28) यतिधर्म की सामग्री
3-29) पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप
3-31) इनको महाव्रत क्यों कहते हैं?
3-32) अहिंसाव्रत की पाँच भावना
3-33) सत्य महाव्रत की भावना
3-34) अचौर्य महाव्रत की भावना

3-35) ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना
3-36) पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना
3-37) पाँच समिति
3-38) ज्ञान का स्वरूप
3-39) जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी
3-40) मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है
3-41) निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा
3-42) गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना
3-43) जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है
3-44) चारित्र के कथन का संकोच
3-45) चारित्रपाहुड़ को भाने का उपदेश और इसका फल

बोध-पाहुड

4-01-02) ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा
4-03-04) 'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम
4-05) आयतन का निरूपण
4-08) चैत्यगृह का निरूपण
4-10) जिनप्रतिमा का निरूपण
4-14) दर्शन का स्वरूप
4-16) जिनबिंब का निरूपण
4-19) जिनमुद्रा का स्वरूप
4-20) ज्ञान का निरूपण
4-21) इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं
4-22) इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है
4-24) देव का स्वरूप
4-25) धर्मादिक का स्वरूप
4-26) तीर्थ का स्वरूप
4-28) अरहंत का स्वरूप
4-29) नाम को प्रधान करके कहते हैं
4-31) स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन
4-32) गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना
4-33) मार्गणा में अरिहंत की स्थापना
4-34) पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना
4-35) प्राण में अरिहंत की स्थापना
4-36) जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना
4-37-39) द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण
4-42-44) प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण
4-45) प्रव्रज्या का स्वरूप
4-51) दीक्षा का बाह्यस्वरूप
4-57) अन्य विशेष
4-60) बोधपाहुड का संकोच
4-61) बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है
4-62) भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन

भाव-पाहुड

5-001) मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
5-002) दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ
5-003) बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा
5-004) करोडों भवों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं
5-005) इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
5-006) भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो
5-007) भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई
5-008) भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति
5-009) नरकगति के दुःख

5-010) मनुष्यगति के दुःख
5-011) तिर्यंचगति के दुःख
5-012) देवगति के दुःख
5-013) अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख
5-014) पार्श्वस्थ भावना से दुःख
5-015) देव होकर मानसिक दुःख पाये
5-016) अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं
5-017) मनुष्य-तिर्यंच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख
5-018) अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये
5-019) मरण द्वारा दुखी हुआ
5-020) अनन्त बार संसार में जन्म लिया
5-021) जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा
5-022) लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा
5-023) समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा
5-024) अनेक बार शरीर ग्रहण किया
5-025-27) आयुकर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है
5-028) निगोद के दुःख
5-029) क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त्त के जन्म-मरण
5-030) इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर
5-031) रत्नत्रय इसप्रकार है
5-032) सुमरण का उपदेश
5-033) क्षेत्र-परावर्तन
5-034) काल-परावर्तन
5-035) द्रव्य-परावर्तन
5-036) क्षेत्र परावर्तन
5-037) शरीर में रोग का वर्णन
5-038) उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा
5-039) अपवित्र गर्भवास में भी रहा
5-040) फिर इसी को कहते हैं
5-041) बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख
5-042) देह के स्वरूप का विचार करो
5-043) अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश
5-044) भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली
5-045) मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं
5-046) भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि
5-047) भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण
5-048) द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है
5-049) द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण
5-050) दीपायन मुनि का उदाहरण
5-051) भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण
5-052) भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन
5-053) शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धी -- उदाहरण शिवभूति मुनि
5-054) इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं
5-055) इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
5-056) भावलिंग का निरूपण करते हैं
5-057) इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं
5-058) ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा
5-059) इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
5-060) जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे
5-061) जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है
5-062) जीव का स्वरूप
5-063) जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :
5-064) वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है

5-065) जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप
5-066) पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है
5-067) यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं
5-068) केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं
5-069) भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है
5-070) भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं
5-071) भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है
5-072) द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है
5-073) पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है
5-074) शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है
5-075) भाव के फल का माहात्म्य
5-076) भावों के भेद
5-077) भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है
5-078) जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है
5-079) ऐसा मुनि ही तीर्थंकर-प्रकृति बाँधता है
5-080) भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं
5-081) द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप
5-082) जिनधर्म की महिमा
5-083) धर्म का स्वरूप
5-084) पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं
5-085) आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण
5-086) आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं
5-087) आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो
5-088) बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया
5-089) भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन
5-090) भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो
5-091) फिर उपदेश कहते हैं
5-092) फिर कहते हैं
5-093) ऐसा करने से क्या होता है ?
5-094) भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश
5-095) परीषह जय की प्रेरणा
5-097) भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास
5-098) भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय
5-099) भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण
5-100) आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन
5-101) अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई
5-102) सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव
5-103) कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव
5-104) विनय का वर्णन
5-105) वैयावृत्य का उपदेश
5-106) गर्हा का उपदेश
5-107) क्षमा का उपदेश
5-108) क्षमा का फल
5-109) क्षमा करना और क्रोध छोड़ना
5-110) दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश
5-111) भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश
5-112) चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण
5-113) बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा
5-114) तत्त्व की भावना का उपदेश
5-115) तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं
5-116) पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम
5-117) पाप-बंध के परिणाम
5-118) इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है

5-119) आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना
5-120) कर्मों का नाश के लिये उपदेश
5-121) भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश
5-122) यह ध्यान भावलिंगी मुनियों का मोक्ष करता है
5-123) दृष्टांत
5-124) पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश
5-125) ज्ञान के अनुभवन का उपदेश
5-126) ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं
5-127) उपसंहार - भाव श्रमण हो
5-128) भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर
5-129) भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार
5-130) भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते
5-131) भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं
5-132) बुढापा आए उससे पहले अपना हित कर लो
5-133) अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन
5-134) अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण
5-135) प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया
5-136) दया का उपदेश
5-137) मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद
5-138) अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता
5-139) एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा
5-140) कुगुरु के त्याग की प्रेरणा
5-141) अनायातन त्याग की प्रेरणा
5-142) सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा
5-143) सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है
5-144) सम्यक्त्व का महानपना
5-145) सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है
5-146) सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा
5-147) ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो
5-148) जीवपदार्थ का स्वरूप
5-149) सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय
5-150) घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय
5-151) अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम
5-152) अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे
5-153) अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश
5-154) जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता
5-155) भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं
5-156) सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर
5-157) आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है
5-158) ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं
5-159) उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं
5-160) इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं
5-161) इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थंकर आदि पद के सुखों पाते हैं
5-162) मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं
5-163) सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें
5-164) भाव के कथन का संकोच
5-165) भावपाहुड़ को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश

मोक्ष-पाहुड

6-001) मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा
6-002) मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा
6-003) ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं
6-004) आत्मा के तीन प्रकार

6-005) तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप
6-006) परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप
6-007) अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो
6-008) बहिरात्मा की प्रवृत्ति
6-009) मिथ्यादृष्टि का लक्षण
6-010) मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है
6-011) मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है
6-012) देह में निर्मम निर्वाण को पाता है
6-013) बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप
6-014) स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है
6-015) परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है
6-016) पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है
6-017) पर-द्रव्य का स्वरूप
6-018) स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है
6-019) ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण
6-020) शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति
6-021) दृष्टांत
6-022) अन्य दृष्टान्त
6-023) ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति
6-024) दृष्टांत / दार्ष्टान्त
6-025) अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है
6-026) संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे
6-027) आत्मा का ध्यान करने की विधि
6-028) इसी को विशेषरूप से कहते हैं
6-029) क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ?
6-030) ध्यान द्वारा संवर और निर्जरा
6-031-32) जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं
6-033) जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा
6-034) जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है
6-035) शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है
6-036) रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है
6-037-38) आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ?
6-039-40) सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं
6-041) सम्यग्ज्ञान का स्वरूप
6-042) सम्यक्चारित्र का स्वरूप
6-043) रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति
6-044-45) ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है
6-046) विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं
6-047) जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारी
6-048) परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव
6-049) ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है
6-050) चारित्र क्या है ?
6-051) जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं
6-052) वह बाह्य में कैसा होता है?
6-053) तीन गुप्ति की महिमा
6-054) परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है
6-055) ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता
6-056) कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान
6-057) चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं
6-058) सांख्यमती आदि के आशय का निषेध
6-059-60) तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है
6-061) बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं
6-062) तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना

6-063) आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना
6-064) ध्येय का स्वरूप
6-065) आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ
6-066) जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता
6-067) आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है
6-068) जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं
6-069) पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी
6-070) इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं
6-071) राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं
6-072) रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है
6-073-74) पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध
6-075) जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं
6-076) अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है
6-077) इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है
6-078) ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध
6-079) मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं
6-080) मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ?
6-081) मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति
6-082) फिर कहते हैं
6-083) निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना
6-084) इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं
6-085) अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं
6-086) श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं
6-087-88) सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा
6-089) जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है
6-090) इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं
6-091) इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
6-092-94) मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं
6-095) मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है
6-096) सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच
6-097) यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं
6-098) मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ?
6-099-100) आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल
6-101-102) ऐसा साधु मोक्ष पाता है
6-103) सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो
6-104-105) आत्मा ही मुझे शरण है
6-106) मोक्षपाहुड़ पढ़ने, सुनने, भाने का फल कहते हैं

लिंग-पाहुड

7-01) इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
7-02) बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है
7-03) निर्ग्रंथ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि
7-04) लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं
7-05) फिर कहते हैं
7-06) फिर कहते हैं
7-07) फिर कहते हैं
7-08) फिर कहते हैं
7-09) यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है
7-10) फिर कहते हैं
7-11) लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है
7-12) जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है
7-13) इसी को विशेषरूप से कहते हैं
7-14) फिर कहते हैं

7-15) जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं
7-16) लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध
7-17) लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध
7-18) फिर कहते हैं
7-19) उपसंहार
7-20) श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध
7-21) फिर कहते हैं
7-22) जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है

शील-पाहुड

8-01) नमस्काररूप मंगल
8-02) शील का रूप
8-03) ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ
8-04) विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है
8-05) ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम
8-06) ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है
8-07) विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं
8-08) ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे
8-09) शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त
8-10) विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष
8-11) इसप्रकार निर्वाण होता है
8-12) शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण
8-13) अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य
8-14) ज्ञान से भी शील की प्राथमिकता
8-15) शील बिना मनुष्य जन्म निरर्थक
8-16) बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम
8-17) जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं
8-18) शील सहित का मनुष्यभव में जीना सफल
8-19) जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं
8-20) शील ही तप आदिक हैं
8-21) विषयरूप विष महा प्रबल है
8-22) विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण
8-23) विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दु:ख
8-24) विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है
8-25) सब अंगों में शील ही उत्तम है
8-26) विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रणम
8-27) जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं
8-28) जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं
8-29) जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं
8-30) शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण
8-31) शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है
8-32) यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है
8-33) इस कथन का संकोच करते हैं
8-34) इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन
8-35) ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं
8-36) जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं
8-37) जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है
8-38) यह प्राप्ति जिनवचन से होती है
8-39) अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है
8-40) ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!
श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-देव-प्रणीत
श्री
अष्टपाहुड
मूल प्राकृत गाथा,
पं जयचंदजी छाबडा कृत हिंदी टीका और पंडित हुकम चंद भारिल्ल द्वारा हिंदी पद्यानुवाद सहित
आभार :
!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीअष्टपाहुड नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितं, श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥1॥
कर नमन जिनवर वृषभ एवं वीर श्री वर्धमान को ।
संक्षिप्त दिग्दर्शन यथाक्रम करूँ दर्शनमार्ग का ॥१॥

अन्वयार्थ : [जिणवरवसहस्स] कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में वृषभ-श्रेष्ठ [वड्ढमाणस्स] श्री वर्धमान भगवान् को, अथवा गणादि गुणों से वर्धमान -निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाले जिनवरवृषभ-भगवान् वृषभ देव प्रथम तीर्थंकर अथवा समस्त तीर्थंकरों को [णमुक्कारं] नमस्कार [काऊण] कर मैं (कुन्दकुन्ददेवा) [जहाकमं] अनुक्रम से [समासेण] संक्षेप में [दंसणमग्गं] दर्शन के मार्ग (मोक्षमार्ग) का स्वरुप [वोच्छामि] कहूँगा ।

दर्शन-रहित अवन्दनीय

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥2॥
सद्धर्म का है मूल दर्शन जिनवरेन्द्रों ने कहा ।
हे कानवालो सुनो ! दर्शनहीन वंदन योग्य ना ॥२॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [सिस्साणं] शिष्यों के लिए [दंसण] दर्शन [मूलो] मूलक [धम्मो] धर्म का [उवइट्ठो] उपदेश दिया है, सो [तं] उसे [सकण्णे] अपने कानों से [सोऊण] सुनकर [दंसणहीणो] दर्शन रहित मनुष्यों की [वंदिव्वो] वन्दना [ण] नही करनी चाहिए ।

दर्शन रहित चारित्र से निर्वाण नहीं

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥3॥
दृगभ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट हैं उनको कभी निर्वाण ना ।
हों सिद्ध चारित्रभ्रष्ट पर दृगभ्रष्ट को निर्वाण ना ॥३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [दंसणभट्ठा] दर्शन से भ्रष्ट हैं वे [भट्ठा] भ्रष्ट हैं; जो [दंसणभट्ठस्स] दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको [णिव्वाणं] निर्वाण [णत्थि] नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो [चरियभट्ठा] चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो [दंसणभट्ठा] दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त [ण] नहीं होते ।

ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥4॥
जो जानते हों शास्त्र सब पर भ्रष्ट हों सम्यक्त्व से ।
घूमें सदा संसार में आराधना से रहित वे ॥४॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व-रूपी [रयण] रत्न से [भट्ठा] भ्रष्ट है तथा [बहुविहाइं] अनेक प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं, तथापि वह [आराहणा] आराधना से [विरहिया] रहित होते हुए [तत्थेवतत्थेव] वहीँ का वहीँ अर्थात् संसार में ही [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठू वि उग्गं तवं चरंता णं
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥5॥
यद्यपि करें वे उग्रतप शत-सहस-कोटि वर्ष तक ।
पर रत्नत्रय पावें नहीं सम्यक्त्व विरहित साधु सब ॥५॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विरहिया] रहित [सुट्ठु] सुष्ठु (भलीभांति) [वि] भी [वास सहस्स कोडीहिं] हजार करोड़ वर्ष तक [उग्गं] उग्र [तवंचरंता] तप का आचरण करने [अवि] भी पर भी [बोहि] बोधि (केवलज्ञान) [लाहं] लाभ [लहंहि] की प्राप्ति [ण] नहीं हैं ।

सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥6॥
सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान बल अर वीर्य से वर्धमान जो ।
वे शीघ्र ही सर्वज्ञ हों, कलिकलुसकल्मस रहित जो ॥६॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्त] सम्यक्त्व [णाण] ज्ञान, [दंसण] दर्शन, [वीरिय] वीर्य (बल) से [वड्ढमाण] वर्द्धमान हैं तथा [कलिकलुस] पंचम काल की कलुषता और [पाव] पाप से [रहिया] रहित हैं, [जे सव्वे] वे सभी [अइरेण] अल्पकाल में [वरणाणी] उत्कृष्ट ज्ञानी (केवलज्ञानी) [होंति] होते हैं ।

सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥7॥
सम्यक्त्व की जलधार जिनके नित्य बहती हृदय में ।
वे कर्मरज से ना बंधे पहले बंधे भी नष्ट हों ॥७॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके [हियए] हृदय में [सम्मत्त] सम्यक्त्वरूपी [सलिल] जल का [पवहो] प्रवाह [णिच्चं] निरंतर [पवट्टए] प्रवर्त्तमान है, [तस्स] उसके [कम्मं] कर्मरूपी [वालुयवरणं] धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो [बंधुच्चिय] कर्मबंध हुआ हो वह भी [णासए] नाश को प्राप्त होता है ।

दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥8॥
जो ज्ञान-दर्शन-भ्रष्ट हैं चारित्र से भी भ्रष्ट हैं ।
वे भ्रष्ट करते अन्य को वे भ्रष्ट से भी भ्रष्ट हैं ॥८॥

अन्वयार्थ : [जे] जो मनुष्य [दंसणेसु] दर्शन से [भट्ठा] भृष्ट है वे [णाणे] ज्ञान और [चरित्तभट्ठाय] चरित्र से भी भृष्ट है, [एवे] वे [भट्ठविभट्ठा] भृष्टों में भी अतिभृष्ट है और [सेसंपि] अन्य [जणं] मनुष्यों को भृष्ट कर उनका भी [विणासंति] विनाश करते हैं ।

दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिति ॥9॥
तप शील संयम व्रत नियम अर योग गुण से युक्त हों ।
फिर भी उन्हें वे दोष दें जो स्वयं दर्शन भ्रष्ट हों ॥९॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [किवि] किसी भी, [धम्मोसीलो] धर्मशील-धर्म के अभ्यासियों, [संजम] संयम [तव] तप, [णियम] नियम [जोय] योग [च] और [गुणधारी] गुणों से युक्त महापुरषों में मिथ्या [दोस] दोषरोपण [कहंता] करते है [तस्स] वे स्वयं तो चरित्र से [भग्गा] पतित है [भग्गत्तणं] दूसरों को भी पतित [दिंति] कर देते है ।

दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥10॥
जिस तरह द्रुम परिवार की वृद्धि न हो जड़ के बिना ।
बस उस तरह ना मुक्ति हो जिनमार्ग में दर्शन बिना ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलम्मि] जड़ के [विणट्ठे] नष्ट होने से [दुमस्स] वृक्ष के [परिवार] परिवार की [परिवड्ढी] अभीवृद्धि [णत्थी] नही होती [तह] उसी प्रकार [जिण] जिन [दंसण] दर्शन अर्थात अरिहंत भगवान के मत से [भट्ठा] भृष्ट, [मूलविणट्ठा] मूल से विनष्ट है / जड़ से रहित है उन की [सिज्झंति] सिद्धि [ण] नही होती अर्थात मोक्ष नही प्राप्त होता ।

जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ
तह जिणदंसण मूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥11॥

मूल ही है मूल ज्यों शाखादि द्रुम परिवार का ।
बस उस तरह ही मुक्तिमग का मूल दर्शन को कहा ॥११॥

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलाओ] जड़ से [खंधो] वृक्ष का स्कंध और [साहा] शाखाओं का [परिवार] परिवार [बहुगुणों] वृद्धि आदि अनेक गुणों से युक्त [होई] होता है [तह] वैसे ही [जिणदंसण] जिनदर्शन अथवा जिनेन्द्रदेव का प्रगाढ़ श्रद्धान [मोक्ख] मोक्ष [मग्गस्स] मार्ग का [मूलो] मूल कारण [णिद्दिट्ठो] कहा है ।

दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की विनय करें

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥12॥
चाहें नमन दृगवन्त से पर स्वयं दर्शनहीन हों ।
है बोधिदुर्लभ उन्हें भी वे भी वचन-पग हीन हों ॥१२॥

अन्वयार्थ : [जे] जो [दंसणेसु] दर्शन से [भट्ठा] भृष्ट होकर [दंसणधराणं] दर्शन-धारकों के [पाए] चरणों में [ण] नही पड़ते/उन्हें नमस्कार नही करते, [ते] वे [लल्लमूआ] गूंगे [होंति] होते है [तेसिं] उनको [बोही] रत्नत्रय की [पुण] फिर प्राप्ति [दुल्हा] दुर्लभ रहती है ।

दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ॥13॥
जो लाज गारव और भयवश पूजते दृगभ्रष्ट को ।
की पाप की अनुोदना ना बोधि उनको प्राप्त हो ॥१३॥

अन्वयार्थ : [लज्ज] लज्जा, [गारव] गर्व [च] और [भयेण] भय वश [तेसिं] मिथ्यादृष्टियों के चरणों में, [जेपि] जो [तेसिं] उनको [जाणंता] जानते हुए भी, [पडंति] पड़ते है, [पावं] पाप की [अणुमो] अनुमोदन [अमाणाणं] करने वालों को [पि] भी [बोहि] रत्नत्रय की प्राप्ति [णत्थि] नही होती ।

सम्यक्त्व के पात्र

दुविंह पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥14॥
त्रैयोग से हों संयमी निर्ग्रन्थ अन्तर-बाह्य से ।
त्रिकरण शुध अर पाणिपात्री मुनीन्द्रजन दर्शन कहें ॥१४॥

अन्वयार्थ : [दुविहं पि] दोनों प्रकार के (अंतरंग और बाह्य) [गंथचायं] परिग्रहों का त्याग और [तीसुवि] तीन प्रकार का [जोएसु] योग (मन, वचन, काय) पर [संजमो] संयम (प्रवृत्ति पर नियंत्रण) [ठादि] रखना, [णाणम्मि] ज्ञान को [करण] कृत, कारित, अनुमोदन से [सुद्धे] निर्मल रखना, [उब्भसणे] खड़े होकर भोजन लेना, ऐसा [दंसणं] दर्शन [होई] होता है ।

सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय

सम्मत्तदो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥15॥
सम्यक्त्व से हो ज्ञान सम्यक् ज्ञान से सब जानना ।
सब जानने से ज्ञान होता श्रेय अर अश्रेय का ॥१५॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तादो] सम्यक्त्व से [णाणं] ज्ञान, [णाणादो] ज्ञान से [सव्वभावउवलद्धी] समस्त पदार्थ उपलब्ध होते है, [पयत्थे] पदार्थ [उवलद्ध] उपलब्ध होने से [पुण] फिर जीव [सेयासेयं] कल्याण और अकल्याण को [वियाणेदि] विशेष रूप से जानता है ।

कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि
सीलफलेणब्भुदयं तत्ते पुण लहइ णिव्वाणं ॥16॥
श्रेयाश्रेय के परिज्ञान से दु:शील का परित्याग हो ।
अर शील से हो अभ्युदय अर अन्त में निर्वाण हो ॥१६॥

अन्वयार्थ : [सेयासेय] कल्याण और अकल्याण को [विदण्हू] जानने-वाला मनुष्य [दुस्सील] दुःशील / दुष्ट-स्वभाव को [उद्धुद] उन्मूलित कर लेता है तथा [सीलवंतोवि] उत्तमशील/श्रेष्ठ स्वभाव युक्त होता है, [सीलफलेण] शील के फलस्वरूप वह [अब्भुदयं] सांसारिक सुख प्राप्तकर [तत्तो पुण] फिर [णिव्वाणं] मोक्ष [लहइ] प्राप्त करता है ।

सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥17॥
जिनवचन अमृत औषधी जरमरणव्याधि के हरण ।
अर विषयसुख के विरेचक हैं सर्वदु:ख के क्षयकरण ॥१७॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचन रूपी [मोसहमिणं] औषधि [विसयसुह] विषयसुखों को [विरेयणं] दूर करने वाली है, [अमिदभूयं] अमृत रूप है, [जरमरण] जरा और मृत्यु की [वाहि] व्याधि को [हरणं] हरने वाली है तथा [सव्व] सब [दुक्खाणं] दुखों का [खय] क्षय [करणं] करने वाली है ।

जिनवचन में दर्शन का लिंग

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥18॥
एक जिनवर लिंग है उत्कृष्ट श्रावक दूसरा ।
अर कोई चौथा है नहीं, पर आर्यिका का तीसरा ॥१८॥

अन्वयार्थ : [एक्कं] एक [जिणस्स] जिनेन्द्र भगवान् का नग्न [रूवं] रूप, [वीयं] दुसरा [उक्किट्ठ] उत्कृष्ट [सावयाणं] श्रावकों [तु] और [तइयं] तीसरा [अवरट्ठियाण] जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है, ये तीन लिंग ही [दंसणं] जिन दर्शन के कहे गए है, [पुण] फिर [चउत्थं] चौथा [लिंगं] लिंग [णत्थि] नही है ।

बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥19॥
छह द्रव्य नव तत्त्वार्थ जिनवर देव ने जैसे कहे ।
है वही सम्यग्दृष्टि जो उस रूप में ही श्रद्धहै ॥१९॥

अन्वयार्थ : [छद्दव्व] छः द्रव्यों, [णव] नौ [पयत्था] पदार्थों, [पंचत्थी] पांच अस्तिकाय और [सत्ततच्च] सात तत्व [णिद्दिट्ठा] कहे गए हैं, [ताण] उनके [रूवं] स्वरुप का जो [सद्दहइ] श्रद्धान करता है [सो] उसे [सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि [मुणेयव्वो] जानना / मानना चाहिए ।

सम्यक्त्व के दो प्रकार

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥20॥

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है ।
पर नियतनय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥२०॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र देव ने [पण्णत्तं] कहा है कि [ववहारा] व्यवहारनय से [जीवादि] जीवादि तत्वों का और [णिच्छयदो] निश्चयनय से अपनी [अप्पाणं] आत्मा का [सद्दहणं] श्रद्धान करना [सम्मतं] सम्यक्त्व [हवइ] है ।

सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥21॥
जिनवरकथित सम्यक्त्व यह गुण रतनत्रय में सार है ।
सद्भाव से धारण करो यह मोक्ष का सोपान है ॥२१॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत [दंसण रयणं] सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को [भावेण] भावपूर्वक [धरेह] धारण करो ! यह [गुणरयणत्तय] क्षमादि गुणों और रत्नत्रय में [सारं] श्रेष्टत्तम है क्योकि [मोक्खस्स] मोक्ष की [पढम] प्रथम [सोवाणं] सीढ़ी है ।

श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं ॥22॥
जो शक्य हो वह करें और अशक्य की श्रद्धा करें ।
श्रद्धान ही सम्यक्त्व है इस भाँति सब जिनवर कहें ॥२२॥

अन्वयार्थ : [जं] जो कार्य [सक्कइ] किया जा सकता है [तं] वह [कीरइ] करे [च] और [जं ण] जो नही [सक्केइ] कर सकते [तं] उसका [सद्दहणं] श्रद्धान करे । [केवलि] केवलि, [जिणेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [भणियं] कहा है कि [सद्दमाणस्स] श्रद्धान करने वाला [सम्मतं] सम्यक्त्व से युक्त, सम्यग्दृष्टि है ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥23॥
ज्ञान दर्शन चरण में जो नित्य ही संलग्न हैं ।
गणधर करें गुण कथन जिनके वे मुनीजन वंद्य हैं ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन, ज्ञान, चरित्र, [तवविणये] तप और विनय में [णिच्चकाल] सदाकाल [सुपसत्था] लीन रहते हैं तथा अन्य [गुणधराणं] गुणधारक मनुष्यों के [गुणवादी] गुणों का वर्णन करते हैं [एदे] वे [वंदणीया] नमस्कार करने योग्य हैं ।

यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥24॥
सहज जिनवर लिंग लख ना नमें मत्सर भाव से ।
बस प्रगट मिथ्यादृष्टि हैं संयम विरोधी जीव वे ॥२४॥

अन्वयार्थ : जो [सहजुप्पण्णं] स्वाभाविक नग्न [रूवं] रूप को [दट्ठुंण] देखकर उसे [ण] नही [मण्णए] मानते [मच्छरिओ] मत्सर भाव करते हैं, [सो] वह [संजमपडिवण्णो] संयमप्राप्त कर भी [मिच्छाइट्ठीहवइएसो] मिथ्यादृष्टि होता है ।

इसी को दृढ़ करते हैं

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं

जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥25॥

अमर वंदित शील मण्डित रूप को भी देखकर ।

ना नमें गारब करें जो सम्यक्त्व विरहित जीव वे ॥२५॥

अन्वयार्थ : जिनका नग्न [रूवं] स्वरुप [अमराण] देवों द्वारा [वंदियाणं] वन्दनीय है और जो [सीलसहियाणं] शीलसहित है [जे] जो उन्हे [दट्ठूण] देखकर [गारवं] मान से उनकी उपासना नही करते वे [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विवज्जिया] रहित [होंति] है ।

असंयमी वंदने योग्य नहीं

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज

दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥26॥

असंयमी ना वन्द्य है दृगहीन वस्त्रविहीन भी ।

दोनों ही एक समान हैं दोनों ही संयत हैं नहीं ॥२६॥

अन्वयार्थ : [अस्संजदं] असंयमी [सो] की [वंदे] वन्दना / नमस्कार [ण] नही करना चाहिए, [वच्छविहिणो] वस्त्र रहित होने पर भी (असंयमी) भी [वंदिज्ज] वन्दना/नमस्कार के योग्य [ण] नही है, [दुण्णिवि] ये दोनों ही एक [समाणा] समान [होंति] है, दोनों में से [एगोवि] एक भी [संजदो] संयमी [ण] नही [होदि] है ।

इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो

को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥27॥

ना वंदना हो देह की कुल की नहीं ना जाति की ।

कोई करे क्यों वंदना गुणहीन श्रावक-साधु की ॥२७॥

अन्वयार्थ : [ण वि] न ही [देहो] शरीर की [वंदिज्जइ] वन्दना करी जाती है, न [कुलो] कुल की वन्दना करी जाती है और न [जाइ] जाति [संजुत्तो] से युक्त की वन्दना करी जाती है । [को] किस गुणहीन की [वंदमि] वन्दना करू ? क्योकि [गुणहीणो] गुण से हीन, न तो [सवणो] मुनि है और न ही [सावओ] श्रावक है ।

तप आदि से संयुक्त को नमस्कार

वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च

सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण3 सुद्धभावेण ॥28॥

गुण शील तप सम्यक्त्व मंडित ब्रह्मचारी श्रमण जो ।

शिवगमन तत्पर उन श्रमण को शुद्धमन से नमन हो ॥२८॥

अन्वयार्थ : मैं [तव] तप [समणा] सहित मुनियों को [वन्दामि] नमस्कार करता हूँ ! [तेसिं] उनके [सीलं] शील, [गुणं] गुणों [वंभचेरं] ब्रह्मचर्य [सिद्धि] मोक्ष [गमणं] प्राप्ति के लिए प्रयास सहित, [सम्मत्तेण] श्रद्धापूर्वक तथा [सुद्धभावेण] शुद्ध भावों से वन्दना करता हूँ ।

समवसरण सहित तीर्थंकर वंदने योग्य हैं या नहीं

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्ते

अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥29॥

चौंसठ चमर चौंतीस अतिशय सहित जो अरहंत हैं ।

वे कर्मक्षय के हेतु सबके हितैषी भगवन्त हैं ॥२९॥

अन्वयार्थ : जो [चउसट्ठिचमरसहिओ] चौसठ चमरो सहित, चौतीस [अइसएहिं] अतिशयों से [संजुत्तो] युक्त है, विहार के समय पीछे चलने वाले [अणुवर] सेवको तथा अन्य [बहु सत्त हिओ] अनेक जीवों का हित करने वाले, तीर्थंकर परमदेव को मैं [कम्मक्खय] कर्मों के क्षय में [निमित्त] कारणभूत नमस्कार करता हूँ ।

मोक्ष किससे होता है?

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण

चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥30॥

ज्ञान-दर्शन-चरण तप इन चार के संयोग से ।

हो संयमित जीवन तभी हो मुक्ति जिनशासन विषैं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [णाणेण दंसणेण] सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, [तवेण] सम्यकतप [य] और [चरियेण] सम्यक्चारित्र ये [चउसिंहपि] चार प्रकार के [संजमगुणेण] संयम गुण है, इन चारों के [समाजोगे] संयोग (एकत्रित होने) पर ही [जिणसासणे] जिशासन में [मोक्खो] मोक्ष की प्राप्ति [दिट्ठो] कही है ।

ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं

सम्मत्तओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥31॥

ज्ञान ही है सार नर का और समकित सार है ।

सम्यक्त्व से हो चरण अर चारित्र से निर्वाण है ॥३१॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [णरस्स] जीव का [सारो] सारभूत है,और ज्ञान की अपेक्षा [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [सारोवि] सारभूत [होइ] है क्योकि [सम्मत्ताओ] सम्यक्त्व से ही [चरणं] चरित्र होता है, [चरणाओ] चरित्र से [णिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण

चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥32॥

सम्यक्पने परिणमित दर्शन ज्ञान तप अर आचरण ।

इन चार के संयोग से हो सिद्ध पद सन्देह ना ॥३२॥

अन्वयार्थ : [णाणम्मि] ज्ञान, [दंसणम्मि] दर्शन [य] और [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व सहित [तवेण] तप, [चरिएण] चारित्र, इन [चउण्हं] चारों का [समाजोगे] समायोग होने से [जीवा] जीव [सिद्धा] सिद्ध हुए हैं, इसमें [संदेहो] सन्देह [ण] नहीं है ।

सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं

सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥33॥

समकित रतन है पूज्यतम सब ही सुरासुर लोक में ।

क्योंकि समकित शुद्ध से कल्याण होता जीव का ॥३३॥

अन्वयार्थ : [जीवा] जीव, [कल्लाण] कल्याणों के [परंपरया] समूह (पँचकल्याण को) को [विसुद्ध] विशुद्ध (निर्दोष) [सम्मतं] सम्यक्त्व से [लहंति] प्राप्त करते है, [सम्मदंसणरयणं] सम्यग्दर्शन रूप रत्न [अग्घेदि] पूजा जाता है [सुरासुरे] देवों, दानवों (सहित) [लोए] समस्त लोक द्वारा ।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं च मोक्खं च ॥34॥
प्राप्तकर नरदेह उत्तम कुल सहित यह आतमा ।
सम्यक्त्व लह मुक्ति लहे अर अखय आनन्द परिणमे ॥३४॥

अन्वयार्थ : जो [मणुयत्तं] मनुष्य जन्म, [उत्तमेण] उत्तम [गुत्तेण] गोत्र (कुल) की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ विचार [सहियं] सहित [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [य] और ज्ञान [लद्धूण] प्राप्त करता है वह [अक्खय] अक्षय / अविनाशी अनन्त [सुक्खं] सुख [च] एवम [मोकखं] मोक्ष प्राप्त करता है ।

स्थावर प्रतिमा

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्ते
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥35॥
हजार अठ लक्षण सहित चौंतीस अतिशय युक्त जिन ।
विहरें जगत में लोकहित प्रतिमा उसे थावर कहें ॥३५॥

अन्वयार्थ : [सहसट्ठ] एक हज़ार आठ [सुलक्खणेहिं] शुभ लक्षणों और [चउतीस] ३४ [अइसय] अतिशयों [संजुत्तो] से युक्त [जिणिंदो] जिनेन्द्र भगवान् जब तक यहाँ [विहरदि] विहार करते है [जाव] तब तक [सा] उन्हें [थावरा] स्थावर [पडिमा] प्रतिमा [भणिया] कहा गया है ।

जंगम प्रतिमा

बारसविहतवजुत्त कम्मं खविऊण विहिबलेण सं
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्त ॥36॥
द्वादश तपों से युक्त क्षयकर कर्म को विधिपूर्वक ।
तज देह जो व्युत्सर्ग युत, निर्वाण पावें वे श्रमण ॥३६॥

अन्वयार्थ : [वारसविह] बारह प्रकार के [तव] तपों से [जुत्ता] युक्त [ऊण] मुनि [वीहि] विधि के [वलेण] बल से [कम्मं] कर्मों का [खवि] क्षय कर [वोसट्ट] दो प्रकार के व्युतसर्गो -- पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग से [देहा] शरीर [चत्त] त्याग कर [णिव्वाणमणुत्तरं] सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥42॥
सवसासत्तं तित्थं वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं
जिणभवणं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥43॥
पंचमहव्वयजुत्त पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा
सज्झायझाणजुत्त मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥44॥
सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥47॥
उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥48॥
णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥49॥

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥50॥
जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥51॥
उवसमखमदमजुत्त सरीरसंकारवज्जिया रुक्खा
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥52॥
विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्त
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥53॥

सूत्र का स्वरूप

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥1॥
अरहंत-भासित ग्रथित-गणधर सूत्र से ही श्रमणजन ।
परमार्थ का साधन करें अध्ययन करो हे भव्यजन ॥१॥

अन्वयार्थ : [अरहन्तभासियत्थं] अरिहंत देव द्वारा प्रतिपादित अर्थमय, [गणहरदेवेहिं] गणधर देव द्वारा [सम्मं] सम्यक रूप से / पूर्वापरविरोधरहित [गंथियं] गुथित (गुम्फन किया) तथा [सुत्तत्थ] शास्त्र के [मग्गणत्थं] अर्थ को खोजने वाले, सूत्रों से [सवणा] श्रमण अपने [परमत्थं] परमार्थ को [साहंति] साधते है ।

सूत्रानुसार प्रवर्तनेवाला भव्य

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपूरेण मग्गेण
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥2॥
जो भव्य हैं वे सूत्र में उपदिष्ट शिवमग जानकर ।
जिनपरम्परा से समागत शिवमार्ग में वर्तन करें ॥२॥

अन्वयार्थ : [सुत्तम्मि] सूत्र (श्रुत) में [जं] जो [सुविट्ठं] भली प्रकार कहा है उसे [आयरिय] आचार्य [परंपरेण] परंपरायुक्त [मग्गेण] मार्ग (क्रम) से , [दुविहसुत्तं] दो प्रकार के सूत्र (शब्दमय और अर्थमय) [णाऊण] जानकर [सिवमग्ग] मोक्ष मार्ग मे जो [वट्टइ] प्रवृत्त होता है वह [भव्वो] भव्य है ।

सूत्र-प्रवीण के संसार नाश

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि
सूई जहा असुत्त णासदि सुत्तेण सहा णो वि ॥3॥
डोरा सहित सुइ नहीं खोती गिरे चाहे वन-भवन ।
संसार-सागर पार हों जिनसूत्र के ज्ञायक श्रमण ॥३॥

अन्वयार्थ : [भवस्स] जो भव्य [सुत्तं] सूत्रों / शास्त्रों को यथार्थ में [जाणमाणो] जानता है, मानो [सो] वही चतुर्गति रूप अपने [भव] संसार को [णासणं] नष्ट [कुणदि] करता है [जहा] जिस प्रकार [असुत्ता] डोरी के बिना [सुई] सुई [णासदि] खो जाती है उसी प्रकार [सुत्ते] सूत्रों / शास्त्रों [सहा] के साथ [णोवि] बिना भी अनभिज्ञ मनुष्य भी नष्ट / संसार में गुम हो जाता है ।

सूई का दृष्टान्त

पुरिसो वि जो ससुत्ते ण विणांसइ सो गओ वि संसारे
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥4॥

संसार में गत गृहीजन भी सूत्र के ज्ञायक पुरुष ।
निज आतमा के अनुभवन से भवोदधि से पार हों ॥४॥

अन्वयार्थ : जो [पुरिसोवि] पुरुष [ससुत्तो] जिनागम सहित है [सो] वह [संसारे] संसार में [गतोऽपि] रहकर भी [ण विणासइ] नष्ट नही होता है । अपना रूप [सोअदिस्समाणो] अदृश्यमान / अप्रसिद्ध [तं] होने पर भी [पच्चक्खं] प्रत्यक्ष [सच्चेयण] स्वात्मानुभव से संसार का [णासदि] नाश करते हैं ।

सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥5॥
जिनसूत्र में जीवादि बहुविध द्रव्य तत्त्वारथ कहे ।
हैं हेय पर व अहेय निज जो जानते सद्दृष्टि वे ॥५॥

अन्वयार्थ : जो [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे [सुत्तत्थं] सूत्रों के अर्थों को, [जीवाजीवादि] जीवाजीवादि [बहुविहं] अनेक प्रकार के [अत्थं] पदार्थों को [च तहा] और उनमें तथा [हेयाहेयं] हेय उपादेय को [जाणइ] जानता है, [सो हु सद्दिट्ठी] वह सम्यग्दृष्टि है ।

दो प्रकार से सूत्र-निरूपण

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥6॥
परमार्थ या व्यवहार जो जिनसूत्र में जिनवर कहे ।
सब जान योगी सुख लहें मलपुंज का क्षेपण करें ॥६॥

अन्वयार्थ : [जिण] जिनेन्द्र भगवान् ने [जं] जो [सुत्तं] सूत्र [उत्तं] कहे हैं [तह] उन्हें [ववहारो] व्यवहार [य] और [परमत्थो] निश्चय रूप [जाण] जानो । [तं जाणिऊण] उसे जानकर [जोई] योगी [खवइ मलपुंजं] पापपुंज को नष्ट कर [सुहं] आत्मसुख [लहइ] प्राप्त करते हैं ।

सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥7॥
सूत्रार्थ से जो नष्ट हैं वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं ।
तुम खेल में भी नहीं धरना यह सचेलक वृत्तियाँ ॥७॥

अन्वयार्थ : [सुत्तत्थ] सुत्रार्थ और [पय] पदों से [विणट्ठो] विमुख को [मिच्छादिट्ठि] मिथ्यादृष्टि [हु] ही [मुणेयव्वो] जानो । [सचेलस्स] वस्त्र सहित को [खेडे वि] खेलखेल मे भी, [पाणिप्पत्तं] पाणिपात्र से आहार [ण कायव्वं] नही देना चाहिये ।

जिनूसत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥8॥
सूत्र से हों भ्रष्ट जो वे हरहरी सम क्यों न हों ।
स्वर्गस्थ हों पर कोटि भव अटकत फिरें ना मुक्त हों ॥८॥

अन्वयार्थ : वह (सूत्र के पदो और अर्थो से भ्रष्ट) [हरिहर] विष्णु और रूद्र [तुल्लोवि] समान [णरो] नर [वि] भी [सग्गं] स्वर्ग तक ही [गच्छेइ] जाता है [भवकोडी] करोड़ों भव धारण कर [संसारत्थो] संसार मे [पुणो भणिदो] बार बार भ्रमण करता है, [तहवि] तथापि [सिद्धिं] मोक्ष [ण] नहीं [पावइ] प्राप्त करता है ।

जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य

जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छतं ॥9॥

सिंह सम उत्कृष्टचर्या हो तपी गुरु भार हो ।

पर हो यदी स्वच्छन्द तो मिथ्यात्व है अर पाप हो ॥९॥

अन्वयार्थ : जो मुनि [सिह] सिंह समान निर्भय होकर [उक्किट्ट] उत्कृष्ट [चरियं] चारित्र का पालन करता है, [बहु] अनेक प्रकार के [परियम्मो] व्रत, उपवासादि करता हैं, [य] तथा [गुरुयभारो य] गुरूभार (संघ के नायक, आचार्यपद) वहन करता हैं किन्तु [सच्छंदं] जिनसूत्र से च्युत होकर स्वच्छंद [विहरइ] प्रवर्तता है वो [पावं] पाप [गच्छेदि] को प्राप्त होता है, [होदि मिच्छत्तं] मिथ्यादृष्टि होता है ।

जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं

एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥10॥

निश्चेल एवं पाणिपात्री जिनवरेन्द्रों ने कहा ।

बस एक है यह मोक्षमारग शेष सब उन्मार्ग हैं ॥१०॥

अन्वयार्थ : [परमजिणवरिंदेहिं] परम जिनेन्द्र देव ने [णिच्चेल] निर्गन्थ दिगम्बर(वस्त्र मात्र के त्यागी) मुद्राधारी मुनि को ही [पाणित्तं] पाणिपात्र (अंजलि के पात्र) मे आहार लेने का [उवइट्ठं] उपदेश दिया है । [एक्कोहि] एक यही [मोक्खमग्गो] मोक्ष मार्ग है [सेसा] अन्य [य सव्वे] और सभी [अमग्गया] अमार्ग है (मोक्षमार्ग नहीं है) ।

मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि

सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥11॥

संयम सहित हों जो श्रमण हों विरत परिग्रहारंभ से ।

वे वन्द्य हैं सब देव-दानव और मानुष लोक से ॥११॥

अन्वयार्थ : जो [संजमेसु सहिओ] संयम सहित [आरंभपरिग्गहेसु विरओ] आरंभ तथा परिग्रह से विरत (त्यागी) [वि] भी होते है [सो] वही [लोए] लोक में [सुरासुरमाणुसे] सुर, असुर और मनुष्यों के द्वारा [वंदणीओ] वन्दनीय [होइ] है ।

उनकी प्रवृत्ति का विशेष

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्त

ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥12॥

निजशक्ति से सम्पन्न जो बाइस परीषह को सहें ।

अर कर्म क्षय वा निर्जरा सम्पन्न मुनिजन वंद्य हैं ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो (मुनि) [वीसपरिसह] बाईस परिषह [सहंति] सहन करते है, [सत्तीसएहिं] सैकड़ों शक्ति [संजुत्ता] युक्त हैं [ते] वे [वंदणीया] वन्दनीय हैं, [कम्मक्खय] कर्मक्षय व [णिज्जरासाहू] निर्जरा करने मे कुशल हैं ।

शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्त्रधारी इच्छाकार योग्य

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्त

चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्ज य ॥13॥

अवशेष लिंगी वे गृही जो ज्ञान दर्शन युक्त हैं ।

शुभ वस्त्र से संयुक्त इच्छाकार के वे योग्य हैं ॥१३॥

अन्वयार्थ : (निर्गरन्थ दिगम्बर के अतिरिक्त) [अवसेसा] शेष [जे] जो [लिंगी] लिंग धारी, (ऐलक, क्षुल्लकादि) [सम्म] सम्यक [दंसणाणेण] दर्शन, सम्यग्ज्ञान [संजुत्ता] से युक्त [परिगहिया] परिग्रह सहित [य] और [चेलेण] वस्त्रधारी हैं [ते] वे [इच्छणिज्जाय] इच्छाकार करने योग्य [भणिया] कहे गये हैं ।

इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं

ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥14॥

मर्मज्ञ इच्छाकार के अर शास्त्र सम्मत आचरण ।

सम्यक् सहित दुष्कर्म त्यागी सुख लहें परलोक में ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [इच्छ्यार] इच्छाकार के [महत्थं] महान अर्थ को जानता है वह [सुत्तठिओ] सूत्र-आगम मे स्थित हृै आगम जानता है, वह [कम्मं] आरम्भ आदि कर्मों को [छंडए] त्याग करता है और [ठाणे] श्रावक के स्थान मे [सम्मत्तं] सम्यक्त्व पूर्वक [ट्ठिय] स्थित है [परलोय] जो परलोक मे [सहुंकरो] सुखकारी [होई] होता है ।

इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥15॥

जो चाहता नहिं आतमा वह आचरण कुछ भी करे ।

पर सिद्धि को पाता नहीं संसार में भ्रमता रहे ॥१५॥

अन्वयार्थ : [अथ पुण] सो जिसे [अप्पा] आत्मा [णिच्छदि] नहीं इच्छता (आत्मा की भावना नही करता), वह [निरवसेसाइं] बाकी समस्त [धम्माइं करेदि] धार्मिक अनुष्ठान -- दान, पूजादि करता हो, [तहवि] फिर भी [ण पावदि सिद्धिं] सिद्धि नहीं प्राप्त करता, वह [पुणो] फिर [संसारत्थो] संसारी ही [भणिदो] कहा गया है ।

इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण

जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥16॥

बस इसलिए मन वचन तन से आत्म की आराधना ।

तुम करो जानो यत्न से मिल जाय शिवसुख साधना ॥१६॥

अन्वयार्थ : [एएण] इन इन [कारणेण] कारणों से [य] और [तं] उस [अप्पा] आत्मा का [तिविहेण] मन, वचन, काय से [सद्दहेह] श्रद्धान करो तथा [तं] उसे ही [जाणिज्जइ पयत्तेण] प्रयत्नपूर्वक जानो [जेण] जिससे [लेहह मोक्खं] मोक्ष प्राप्त हो सके ।

जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप

वालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं

भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥17॥

बालाग्र के भी बराबर ना परीग्रह हो साधु के ।

अर अन्य द्वारा दत्त पाणीपात्र में भोजन करें ॥१७॥

अन्वयार्थ : [साहूणं] साधु के [बालग्गोकोडिमित्तं] बाल के अग्रभागमात्र भी [परिगहगहणं] परिग्रह ग्रहण [ण] नहीं [होइ] है उन्हे [दिण्णण्णं] अन्न के दिये हुए [भुंजेइ] आहार को [पाणिपत्ते] करपात्र मे [इक्कठाणम्मि] एक स्थान पर लेना चाहिये ।

अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु

जइ लेइ अप्पबहुयं तत्ते पुण णिग्गोदम् ॥18॥

जन्मते शिशुवत् अकिंचन नहीं तिल-तुष हाथ में ।

किंचित् परीग्रह साथ हो तो श्रमण जाँयें निगोद में ॥१८॥

अन्वयार्थ : [जहजाय] तत्काल उत्पन्न बालक [सरिसो] समान (नग्न दिगम्बर मुनि) [तिलतुसमित्तं] तिल की भूसी मात्र भी (परिग्रह) [हत्थेसु] हाथो से [ण गिहदि] ग्रहण नही करते । [जइ] यदि [अप्पबहुयं] थोडा बहुत [लेइ] ग्रहण करते है [तत्तो] तो [पुण] पुनः [णिग्गोदं] निगोद [जाइ] जाते है ।

इस ही का समर्थन करते हैं

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स

सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥19॥

थोड़ा-बहुत भी परिग्रह हो जिस श्रमण के पास में ।

वह निन्द्य है निर्ग्रन्थ होते जिनश्रमण आचार में ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [लिंगस्स] वेष मे [अप्पंबहुयं] थोड़ा या बहुत [परिग्गह] परिग्रह ग्रहण [हवइ] होता है [सो गरहिउ] वह निन्दनीय है, [जिणवयणे] जिनवचन मे [परिगहरहिओ] परिग्रह रहित को ही [निरायारो] मुनि बताया है ।

जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य

पंचमहव्वयजुत्ते तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई

णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जे य ॥20॥

महाव्रत हों पाँच गुप्ती तीन से संयुक्त हों ।

निरग्रन्थ मुक्ती पथिक वे ही वंदना के योग्य हैं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्वयजुत्तो] पंचमहाव्रतों से युक्त, [तिहिं गुत्तिहिं] तीन गुप्तियों सहित ही [संजदो] संयमी/संयत/मुनि [होई] है [सो हु] वही [णिग्गंमोक्खमग्गो] निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में [वंदणिज्जे] वन्दनीय [होदि] है ।

दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च

भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥21॥

जिनमार्ग में उत्कृष्ट श्रावक लिंग होता दूसरा ।

भिक्षा ग्रहण कर पात्र में जो मौन से भोजन करे ॥२१॥

अन्वयार्थ : [च] और [दुइयं] दूसरा [लिगं] लिंग (वेष) [उत्किट्ठं] उत्कृष्ट / श्रेष्ठ [च] और [अवर] अविरक्त [सावयाणं] श्रावकों का [उत्त] कहा गया है । वे [पत्तो] पात्र लिए [भिक्खं भमेइ] भिक्षा के लिये भ्रमण करते है, [समिदिभासेण] भाषा समिति रूप बोलते है या [मोणेण] मौन रहते हैं ।

तीसरा लिंग स्त्री का

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि

अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥22॥

अर नारियों का लिंग तीजा एक पट धारण करें ।

वह नग्न ना हो दिवस में इकबार ही भोजन करें ॥२२॥
अन्वयार्थ : तीसरा [लिगं] लिंग [इत्थीणं] स्त्री का [हवदि] होता है इसकी धारक स्त्रीयां [एयकालम्मि] एक दिन में [पिडं] एकबार [भुंजइ] भोजन (आहार) ग्रहण करतीं हैं । [अज्जिय वि] आर्यिका भी [एक्क वत्था] एक ही वस्त्र धारण करे और [वत्थावरणेण] वस्त्र के आवरण सहित [भुंजेइ] भोजन करे ।

वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥23॥
सिद्ध ना हो वस्त्रधर वह तीर्थकर भी क्यों न हो ।
बस नग्नता ही मार्ग है अर शेष सब उन्मार्ग हैं ॥२३॥
अन्वयार्थ : [जिणसासणे] जिनशासन में [वत्थधरो] वस्त्रधारी होने से [सिज्झइ] सिद्धि प्राप्त [ण] नहीं होती, [जइवि] चाहे वह [तित्थरो] तीर्थंकर [होइ] हो । [णग्गो] नग्न (दिगम्बरत्व) ही [विमोक्खमग्गो] विशिष्ट मोक्ष-मार्ग है [सेसा] शेष [सव्वे] सब [उम्मग्गया] उन्मार्ग है ।

स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु
भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्ज ॥24॥
नारियों की योनि नाभी काँख अर स्तनों में ।
जिन कहे हैं बहु जीव सूक्षम इसलिए दीक्षा न हो ॥२४॥
अन्वयार्थ : [इत्थीणं] स्त्रियों की [लिंगम्मि] योनि में, [यथणंतरे] स्तनों के बीच में वक्षस्थल, [णाहिकक्खदेसेसु] नाभि और कांख के क्षेत्र में [सुहुमोकाओ] सूक्ष्म शरीरी जीव [भणिओ] कहे गये है [तासं] अतः उनकी [पव्वज्जा] दिक्षा [कथं] कैसे [होइ] हो सकती है ?

दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित

जइ दंसणेण सुद्धा उत्त मग्गेण सावि संजुत्त
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण 2पव्वया भणिया ॥25॥
पर यदी वह सदृष्टि हो संयुक्त हो जिनमार्ग में ।
सद्आचरण से युक्त तो वह भी नहीं है पापमय ॥२५॥
अन्वयार्थ : [जइ] यदि [उत्ता] उक्त / स्त्री [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुद्धा] शुद्ध है तब [वि] भी [सा] वह [मग्गेण] मार्ग से [संजुत्ता] युक्त है, वह [घोरं चरिय] कठिन आचरण कर [चरित्तं] चारित्रवान [इत्थीसु] स्त्री को [ण पव्वया] पापरहित [भणिया] कहा है ।

स्त्रियों के निशंक ध्यान नहीं

चित्तसोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥26॥
चित्तशुद्धी नहीं एवं शिथिलभाव स्वभाव से ।
मासिकधरम से चित्त शंकित रहे वंचित ध्यान से ॥२६॥
अन्वयार्थ : [तेसिं] उनके (स्त्रियों के) [चित्ता] चित्त की [सोहि] शुद्धता [ण] नहीं है, [तहा] तथा [सहावेण] स्वभाव से [ढिल्लं] शिथिल हैं, [मासातेसिं] प्रत्येक माह [इत्थीसु] स्त्रियों के [विज्जदि] रूधिरस्राव होता है जिससे [ण संकया] निर्भयतापूर्वक उनका [झाणं] ध्यान नहीं होता ।

सूत्रपाहुड का उपसंहार

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण

इच्छा जाहु णियत्त ताह णियत्तइं सव्वदुक्खाइं ॥27॥

जलनिधि से पटशुद्धिवत जो अल्पग्राही साधु हैं ।

हैं सर्व दुख से मुक्त वे इच्छा रहित जो साधु हैं ॥२७॥

अन्वयार्थ : जैसे [समुद्द] समुद्र में से [सलिले] जल को (प्रचुर मात्रा होने पर भी) [स] अपने [चेल] कपड़े [अत्थेण] धोने के लिए [अप्पगाहा] अल्प मात्रा में जल [गाहेण] लेते है उसी प्रकार [जाहु] जिनकी [इच्छा] इच्छाओं की [णियत्ता] निवृत्ति हो गई है [ताह] उनके [सव्वदुक्खाइं] समस्त दुक्ख [णियत्ताइं] दूर हो गये है ।

नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी

वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥1॥

णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं

मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ॥2॥युग्मम्

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अमोही अरिहंत जिन ।

त्रैलोक्य से हैं पूज्य जो उनके चरण में कर नमन ॥१॥

ज्ञान-दर्शन-चरण सम्यक् शुद्ध करने के लिए ।

चारित्रपाहुड़ कहूँ मैं शिवसाधना का हेतु जो ॥२॥

अन्वयार्थ : [सव्वण्हू] सर्वज्ञ, [सव्वदंसी] सर्वदर्शी, [णिम्मोहा] निर्मोह, [वीयराय] वीतरागी, [परमेट्ठी] परमेष्ठी; [तिजगवंदा] त्रिजगत द्वारा वन्दित, और [भव्वजीवेहिं] भव्यजीवों द्वारा वन्दनीय, [अरहंता] अरिहंत भगवान् को तथा [सोहि-कारणं] उसका कारण [णाणं दंसण सम्मं चारित्तं] सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को [वंदित्तु] नमस्कार कर, [तेसिं] उनमें [मुक्खा] मोक्ष [आराहण] प्राप्ति में [हेउं] कारण भूत [चारित्तंपाहुडं] चारित्र पाहुड को [वोच्छे] कहता हूँ ।

सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं

णाणस्स णिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥3॥

जो जानता वह ज्ञान है जो देखता दर्शन कहा ।

समयोग दर्शन-ज्ञान का चारित्र जिनवर ने कहा ॥३॥

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जानता है [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पिच्छइ] जो प्रतीति करता है [तं दंसणं] वह दर्शन [भणियं] कहा गया है [णाणस्स] ज्ञान के [य] और [पिच्छियस्य] दर्शन के [सवण्णाहोइ] सहयोग से [चारित्तं] चारित्र होता है ।

जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया

तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविहं चारित्तं ॥4॥

तीन ही ये भाव जिय के अखय और अमेय हैं ।

इन तीन के सुविकास को चारित्र दो विध जिन कहा ॥४॥

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि] ये तीनों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) [वि भावा] ही भाव / परिणाम [जीवस्स] जीव / आत्मा के [अक्खया] अक्षय / अविनश्वर और [अमेया] अमर्यादित / अनन्तानन्त [हवंति] होते हैं । [तिण्हं] इन तीनों की [पि] ही [सोहणत्थे] शुद्धि के लिए,

[दुविहा चारित्तं] दो प्रकार का चरित्र [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।

दो प्रकार का चारित्र

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥5॥
है प्रथम सम्यक्त्वाचरण जिन ज्ञानदर्शन शुद्ध है ।
है दूसरा संयमचरण जिनवर कथित परिशुद्ध है ॥५॥

अन्वयार्थ : [तं पि] वह भी [जिण णाण] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा [सदेसियं] निरूपित [पढमं] पहिला [जिण णाण दिट्ठि] वीतराग सर्वज्ञ देव के ऊपर ज्ञान और श्रद्दान से [सुद्धं] शुद्ध [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र और [विदियं] दूसरा [संजमचरणं] संयमचरण चरित्र है ।

सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥6॥
सम्यक्त्व के जो दोष मल शंकादि जिनवर ने कहे ।
मन-वचन-तन से त्याग कर सम्यक्त्व निर्मल कीजिए ॥६॥

अन्वयार्थ : [एवं] और [चिय] ऐसा [णाऊण] जानकार [जिण भणिया] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए और [सम्मत] सम्यक्त्व में [मला] मल उतपन्न करने वाले [य] ऐसे [सब्बे] सर्व [मिच्छत्त] मिथ्यात्व [संकाई] शंकादि [दोस] दोषों का [तिविह] तीनों प्रकार के [जोएण] योग (मन वचन काय) से [परिहरि] परित्याग करो ।

सम्यक्त्व के आठ अंग

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥7॥
निशंक और निकांक्ष अर निर्म्लान दृष्टि-अमूढ़ है ।
उपगूहन अर थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ॥७॥

अन्वयार्थ : [णिस्संकिय] निशंकित, [णिक्कंखि] निःकांक्षित, [णिव्विदिगिंछा] निर्विचिकित्सा, [अमूढदिट्ठी] अमूढ-दृष्टि, [उगूहण] उपगूहन, [ठिदिकरणं] स्थितिकरण, [वच्छल] वात्सल्य [य] और [पहावणा] प्रभावना सम्यक्त्व के [ते अट्ठ] ये आठ गुण / अंग हैं ।

इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाए
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥8॥
इन आठ गुण से शुद्ध सम्यक् मूलत: शिवथान है ।
सद्ज्ञानयुत आचरण यह सम्यक्चरण चारित्र है ॥८॥

अन्वयार्थ : [तं] उन निःशंकितादि [चेव गुण] गुणों से [विसुद्धं] विशुद्ध [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् के ऊपर श्रद्धा है, वह [सु] उत्तम [मुक्ख] मोक्ष [थाणाय] स्थान के लिए होता है [जं] जिसका [चरइ] आचरण कर प्रथम [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र होता है ।

सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा

णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥9॥
सम्यक्चरण से शुद्ध अर संयमचरण से शुद्ध हों ।
वे समकिती सद्ज्ञानिजन निर्वाण पावें शीघ्र ही ॥९॥
अन्वयार्थ : [सम्मत्तचरणसुद्धा] सम्यक्त्वचरण से शुद्ध / निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक [णाणि] सम्यग्ज्ञानी और [अमूढ़दिट्ठी] अमूढ़/ विवेकपूर्ण दृष्टि युक्त है, [जइ] उन्हें [सुपसिद्धा] अतिशय प्रसिद्ध [संजमचरणस्स] संयमचरण से शुद्ध हो [अचिरे] अक्षय [णिव्वाणं] निर्वाण [पावंति] प्राप्त होता है ।

सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥10॥
सम्यक्चरण से भ्रष्ट पर संयमचरण आचरें जो ।
अज्ञान मोहित मती वे निर्वाण को पाते नहीं ॥१०॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट है और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं ।

सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥11॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥12॥
विनयवत्सल दयादानरु मार्ग का बहुमान हो ।
संवेग हो हो उपागूहन स्थितिकरण का भाव हो ॥११॥
अर सहज आर्जव भाव से ये सभी लक्षण प्रगट हों ।
तो जीव वह निर्मोह मन से करे सम्यक् साधना ॥१२॥
अन्वयार्थ : [अमोह] मोह रहित अथवा अमोघ (सफल जन्म का धारक) मनुष्य [वच्छलं] वात्सल्य, [विणएण] विनय,अनुकम्पा, [सुदाण] उत्तम दान देने में [दच्छाए] इच्छुक मोक्ष [मग्गणगुण] मार्ग के गुणों में [संसणाए] संशय नही करने वाला /उनकी प्रशंसा करने वाला, [अवगूहण] उपगूहन, [य] और [रक्खणाए] स्थितिकरण, [अज्जवेहिं] अकुटिल [भावेहिं] परिणामी भावी, [एएहिं] इन-इन [लक्खणेहिं] लक्षणों [य] और [लक्खिज्जइ] लक्षणों से युक्त [जीवो] मनुष्य [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व का [आराहंतो] आराधक है ।

सम्यक्त्व कैसे छूटता है?

उच्छाहभावणासंपसंससेवा कुदंसणे सद्धा
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥13॥
अज्ञानमोहित मार्ग की शंसा करे उत्साह से ।
श्रद्धा कुदर्शन में रहे तो बमे सम्यक्भाव को ॥१३॥
अन्वयार्थ : जो [उच्छाह] उत्साह / रूचि [भावणा] भावना पूर्वक [कुदंसणे] मिथ्यामत की [सद्धा] श्रद्धा [सं] उसकी [पसंस] प्रशंसा, और [अण्णाण] अज्ञानी जीवों के समान [मोह] मोध /मोह [मग्गे] मार्ग में श्रद्धान रखता है वह [जिणसम्मं] जिनसम्यक्त्व को [जहदि] छोड़ [कुव्वंतो] देता है ।

सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है?

उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा

ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥14॥

सद्ज्ञान सम्यक्भाव की शंसा करे उत्साह से ।

श्रद्धा सुदर्शन में रहे ना बमे सम्यक्भाव को ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [णाणमग्गेण] ज्ञान मार्ग अर्थात सम्यग्ज्ञान द्वारा [सु दंसणे] सम्यग्दृष्टियों गुरुओं की [उच्छाह] उत्साह/रूचि पूर्वक [भावणा] भावना रखता है, [सं] उनकी, [पसंस] प्रशंसा, सेवा और [सद्धा] श्रद्धान करता है वह [जिणसम्मतं] जिनसम्यक्त्व को नही [कुव्वंतो] छोड़ता ।

अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते

अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥15॥

तज मूढ़ता अज्ञान हे जिय ज्ञान-दर्शन प्राप्त कर ।

मद मोह हिंसा त्याग दे जिय अहिंसा को साधकर ॥१५॥

अन्वयार्थ : [णाणे] सम्यज्ञान, होने पर [अण्णाणं] अज्ञान को और [विसुद्ध सम्मत्ते] विशुद्ध सम्यग्दर्शन होने पर [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व को [वज्जहि] छोड़ो [अह] और [अहिंसाए] अहिंसामयी [धम्मे] धर्म होने पर [सारम्भं] आरम्भ सहित [मोहं] मोह को [परिहर] छोडो ।

फिर उपदेश करते हैं

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे

होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥16॥

सब संग तज ग्रह प्रव्रज्या रम सुतप संयमभाव में ।

निर्मोह हो तू वीतरागी लीन हो शुधध्यान में ॥१६॥

अन्वयार्थ : [संगचाए] वस्त्रादि [पव्वज्ज] परिग्रहों का त्याग कर दीक्षा लेकर [सुसंजमे] उत्तम संयम [भावे] भाव से [सुतवे] उत्कृष्ट तप मे [पयट्ट] प्रवृत्त हो । [णिम्मोहे] निर्मोही को ही [वीयरायत्ते] वीतरागी होने पर [सुविसुद्धझाणं] उत्तम विशुद्धध्यान [होइ] होता है ।

यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं

वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्तबुद्धिउदएण ॥17॥

मोहमोहित मलिन मिथ्यामार्ग में ये भूल जिय ।

अज्ञान अर मिथ्यात्व कारण बंधनों को प्राप्त हो ॥१७॥

अन्वयार्थ : [अण्णाण] अज्ञान और [मोह] मोह [दोसेहिं] दोष से [मलिणे] मलिन [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [बुद्धिउदएण] बुद्धि के उदय में [मिच्छादंसणमग्गे] मिथ्यामार्ग पर चलने वाले [मूढजीवा] मूर्ख जीव [वज्झंति] बंधते (पाप कर्म से) हैं ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया

सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥18॥

सद्ज्ञानदर्शन जानें देखें द्रव्य अर पर्यायों को ।

सम्यक् करे श्रद्धान अर जिय तजे चरणज दोष को ॥१८॥

अन्वयार्थ : [सम्मद्दंसण] सम्यग्दृष्टि दर्शन [णाणेण] ज्ञान से [दव्व पज्जाया] द्रव्यों और उनकी पर्याय को भली प्रकार [पस्सदि] देखता [जाणदि] जानता है [य] और [सम्मेण] सम्यक्त्व-गुण से उनका [सद्दहदि] श्रद्धान करता है [य] और [चरित्तजे] चारित्र सम्बन्धी [दोसे] दोषों को [परिहरदि] दूर करता है ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स
णियगुणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥19॥
सद्ज्ञानदर्शनचरण होते हैं अमोही जीव को ।
अर स्वयं की आराधना से हरें बन्धन शीघ्र वे ॥१९॥

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि वि] ये तीनों ही [भावा] भाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) [मोहरहियस्स] मोह रहित [जीवस्स] जीव के [हवंति] होते हैं । [णिय] निज [गुणमाराहंतो] गुणों की आराधना करने वाला [अचिरेण वि] अल्प काल में ही [कम्म] कर्मों का [परिहरइ] क्षय कर लेता है ।

सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्त णं
सम्मत्तमणुचरंता करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥20॥
सम्यक्त्व के अनुचरण से दुख क्षय करें सब धीरजन ।
अर करें वे जिय संख्य और असंख्य गुणमय निर्जरा ॥२०॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तम] सम्यक्त्व का पालन करने वाले [च] और [अणु चरंता] चारित्र का पालन करने वाले [संखिज्जम] संख्यात गुणी [असंखिज्जगुणं] असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा [करंति] करते हुए [धीरा] धैर्यपूर्वक [दुक्खक्खयं] दुखों का क्षय करते हैं । संसारी जीवों से यह निर्जरा [मेरु] मेरु के [मित्ता] बराबर है ।

संयमाचरण चारित्र

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥21॥
सागार अर अनगार से यह द्विविध है संयमचरण ।
सागार हों सग्रन्थ अर निर्ग्रन्थ हों अणगार सब ॥२१॥

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयम / चारित्राचार के [दुविहं] दो भेद [सायारं] सागार [तह] और [णिरायारं] निरागार [हवे] होते हैं । सागार चारित्राचार [सग्गंथे] परिग्रह सहित (गृहस्थ) के और निरागार चारित्राचार [परिग्गहा रहिय] परिग्रह रहित (मुनि) का होता है ।

सागार संयमाचरण

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य
बंभारंभापरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥22॥
देशव्रत सामायिक प्रोषध सचित निशिभुज त्यागमय ।
ब्रह्मचर्य आरम्भ ग्रन्थ तज अनुमति अर उद्देश्य तज ॥२२॥

अन्वयार्थ : [दंसण] १-दर्शन, [वय] २-व्रत, [सामाइय] ३-सामायिक, [पोसह] ४-प्रोषध, [सचित्त]५-सचित्तत्याग, [राय भत्ते] ६-रात्रीभुक्तीत्याग, [वंभा] ७-ब्रह्मचर्य, [आरंभ] ८-आरम्भत्याग, [परिग्गह] ९-परिग्रह-त्याग, [अणुमण] १०-अनुमति त्याग [य] और [उद्दिट्ठ] ११-उद्दिष्ट त्याग, [देसविरदो] देशविरत अथवा सागार चारित्राचार है ।

इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है?

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि
सिक्खावय चत्तरि य संजमचरणं च सायारं ॥23॥
पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत कहे ।
यह गृहस्थ का संयमचरण इस भांति सब जिनवर कहें ॥२३॥

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयमचरण के [सायारं] सागार-चारित्र में [पंचेवणुवव्याइं] पांच अणुव्रतादि [तह] तथा [तिण्णि] तीन [गुणवव्याइं] गुणव्रत और [चत्तारि] चार [सिक्खावय] शिक्षाव्रत [हवंति] होते हैं ।

पाँच अणुव्रतों का स्वरूप

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥24॥
त्रसकायवध अर मृषा चोरी तजे जो स्थूल ही ।
परनारि का हो त्याग अर परिमाण परिग्रह का करे ॥२४॥

अन्वयार्थ : पांच अणुव्रत -- [थूलेतसकाय] स्थूल-त्रस काय जीवों का [वहे] वध, स्थूल [मोसे] असत्य कथन, [तितिक्खथूले] स्थूल चौर्य [य] और [परपिम्मे] पर स्त्री का [परिहारो] त्याग तथा [परिग्गहारंभ] परिग्रह और आरम्भ का [परिमाणं] परिमाण है ।

तीन गुणव्रत

दिसिविदि सिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥25॥
दिशि-विदिश का परिमाण दिग्व्रत अर अनर्थकदण्डव्रत ।
परिमाण भोगोपभोग का ये तीन गुणव्रत जिन कहें ॥२५॥

अन्वयार्थ : [दिसिविदिसि] दिशाओं (उत्तर / दक्षिण / पूर्व / पश्चिम) तथा विदिशाओं (ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, उर्ध्व और अधो) में गमन का [माण] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [पढमं] प्रथम, [अणत्थदंडस्स] अनर्थदण्ड (हिंसादान, अपध्यान, दुश्रुती, पापोपदेश और प्रमादचर्या) [वज्जणं] का त्याग करना [विदियं] दूसरा, और भोग और उपभोग का [परिमा] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [इयमेव] इसप्रकार तीसरा गुण व्रत है ।

चार शिक्षाव्रत

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥26॥
सामायिका प्रोषध तथा व्रत अतिथिसंविभाग है ।
सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे जिनदेव ने ॥२६॥

अन्वयार्थ : [सामाइयं] सामायिकी प्रथम, [च] और [पोसहं] प्रोषधोपवास [विदीयं] दूसरा, [अतिहिपुज्जं] अतिथि-पूज्य (मुनियों को नवधा भक्ति से आहारादि देना) [तइयं] तीसरा और [सल्लेहणा] सल्लेखना - [अंते] अंत में मृत्यु के समय (शरीर को कषायों को कृष करते हुए त्यागना) [चउत्थ] चौथा शिक्षाव्रत [भणियं] कहा है ।

यतिधर्म

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥27॥

इस तरह संयमचरण श्रावक का कहा जो सकल है ।
अनगार का अब कहूँ संयमचरण जो कि निकल है ॥२७॥
अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सावयधम्मं] श्रावक धर्म [सयलं] सकल (परिग्रह सहित) [संजमचरणं] संयमचरण चरित्रासार [उदेसियं] उपदेशित है, अब [सुद्धं] शुद्ध [णिक्कलं] निकल (परिग्रह रहित) [जइधम्मं] मुनिधर्म चारित्रसार [बोच्छे] कहूंगा ।

यतिधर्म की सामग्री

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु
पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥28॥
संवरण पंचेन्द्रियों का अर पंचव्रत पच्चिस क्रिया ।
त्रय गुप्ति समिति पंच संयमचरण है अनगार का ॥२८॥
अन्वयार्थ : [पंचेंदियसंवरणं] पाँच इन्द्रियों का संवर, [पंच वया] पाँच व्रत - ये [पंचविंसकिरियासु] पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं, [पंच समिदि] पाँच समिति और [तय गुत्ती] तीन गुप्ति ऐसे [णिरायारं] निरागार [संजमचरणं] संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य
ण करेदि रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥29॥
सजीव हो या अजीव हो अमनोज्ञ हो या मनोज्ञ हो ।
ना करे उनमें राग-रुस पंच इन्द्रियाँ, संवर कहा ॥२९॥
अन्वयार्थ : [मणुण्णे] मनोज्ञ (इष्ट) [य] और [अमणुण्णे] अमनोज्ञ (अनिष्ट) [सजीवदव्वे] चेतन द्रव्यों [य] तथा [अजीवदव्वे] अचेतन द्रव्यों में [रायदोसे] रागद्वेष [ण करेइ] नही करना [पंचेदियसंवरो] पंचेन्द्रिय संवर (इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट में द्वेष नही रहना पंचेन्द्रिय संवर/दमन) [भणिओ] कहा है ।
हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥30॥
हिंसा असत्य अदत्त अब्रह्मचर्य और परिग्रहा ।
इनसे विरति सम्पूर्णत: ही पंच मुनिमहाव्रत कहे ॥३०॥
अन्वयार्थ : [हिंसाविरई] हिंसाविरति अर्थात अहिंसा, [असच्चविरई] असत्यविरति, [अदत्तविरई] अदत्त विरत्ति, [तुरियं] चौथा [अबंभविरई] अब्रह्म विरति [य] और [पंचम] पाँचवां [संगम्भिविरई] संगविरति व्रत है ।

इनको महाव्रत क्यों कहते हैं?

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥31॥
ये महाव्रत निष्पाप हैं अर स्वयं से ही महान हैं ।
पूर्व में साधे महाजन आज भी हैं साधते ॥३१॥
अन्वयार्थ : [जं महल्ला] क्योकि महापुरुष इन्हें [साहंति] साधते हैं, [महल्लपुव्वेहिं आयरियं] पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका आचरण किया है, [च जं महल्लाणि] और क्योंकि स्वयं से महान है, [तदो ताइं] इसलिए उन्हें [महल्लया इत्तेहे] महाव्रत कहते हैं ।

अहिंसाव्रत की पाँच भावना

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ॥32॥

मनोगुप्ती वचन गुप्ती समिति ईर्या ऐषणा ।
आदाननिक्षेपण समिति ये हैं अहिंसा भावना ॥३२॥

अन्वयार्थ : [वचनगुत्ती] वचनगुप्ति, [मणगुत्ती] मन गुप्ति, [इरियासमीदी] ईर्यासमिति, [सुदाणणिक्खेवो] सुदान/आदान निक्षेपण समिति और [अवलोएभोयणाए] आलोकित पान, [अहिसाए भावणा] अहिंसाव्रत की ५ भावनायें [होंति] हैं ।

सत्य महाव्रत की भावना

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥33॥
सत्यव्रत की भावनायें क्रोध लोभरु मोह भय ।
अर हास्य से है रहित होना ज्ञानमय आनन्दमय ॥३३॥

अन्वयार्थ : [कोह] क्रोध, [भय] भय, [हास] हास्य, [लोहा] लोभ और [मोहा] मोह के [वीवरौयभावणा] विपरीत भावना (क्षमा, अभय, अहास्य अलोभ, अमोह) [चेव] और भी, [ऐ] ये [विदियस्सभावणाए] दूसरे (सत्य महाव्रत) की पांच भावनायें [होंति] होती हैं ।

अचौर्य महाव्रत की भावना

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥34॥
हो विमोचितवास शून्यागार हो उपरोध बिन ।
हो एषणाशुद्धी तथा संवाद हो विसंवाद बिन ॥३४॥

अन्वयार्थ : [सुण्णायारणिवासो] शून्यागारनिवास, [विमोचितवास] विमोचितवास, [परोधं] परोपरोधाकरण, [एसणसुद्धिस] एषण शुद्धि [उत्तं] सहित और [साहम्मीसंविसंवादो] सधर्मा-अविसंवाद, ये पांच अचौर्य महाव्रत की भावनायें हैं ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥35॥
त्याग हो आहार पौष्टिक आवास महिलावासमय ।
भोगस्मरण महिलावलोकन त्याग हो विकथा कथन ॥३५॥

अन्वयार्थ : [महिलाअलोयण] राग सहित स्त्रियों को देखना, [पुव्वरइसरण] पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण, [ससत्तवसहि] स्त्रियों से संसक्त वसतिका में रहना, [विकहाहि] स्त्रियों की कथा और [पुट्ठियरसेहिं] पौष्टिक रसों का सेवन से [वींरओ] विरति ब्रह्मचर्यव्रत की [पंचावि] पांच [भावण] भावनायें हैं ।

पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना

अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥36॥
इन्द्रियों के विषय चाहे मनोज्ञ हों अमनोज्ञ हों ।
नहीं करना राग-रुस ये अपरिग्रह व्रत भावना ॥३६॥

अन्वयार्थ : [समणुण्णेसु] मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेद युक्त; [सद्दपरिसरसरूवगंधेसु] शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध, इन पंचेन्द्रिय विषयों में [रायद्दोसाईणं] राग द्वेष [परिहारो] त्यागना, [अपरिग्गह] अपरिग्रह व्रत की पांच [भावणा] भावनायें [होंति] होतीं हैं ।

पाँच समिति

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो
संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥37॥
ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण सही ।
एवं प्रतिष्ठापना संयमशोधमय समिती कही ॥३७॥
अन्वयार्थ : [जिणा] जिनेन्द्र भगवान् ने [संजम] संयम की [सोही] शुद्धि के [णिमित्ते] निमित्त पांच [समिदओ] समितियां; [इरिया] ईर्या, [भासा] भाषा, [एसण] एषणा, [आदाण चेव णिक्खेवो] आदान और निक्षेप [खंति] कही है ।

ज्ञान का स्वरूप

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥38॥
सब भव्यजन संबोधने जिननाथ ने जिनमार्ग में ।
जैसा बताया आतमा हे भव्य ! तुम जानो उसे ॥३८॥
अन्वयार्थ : [भव्वजण] भव्यजीवों को [बोहणत्थं] समझाने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनेन्द्रदेव ने [णाणं] ज्ञान और [णाणसरुवं] ज्ञान का स्वरुप [जह भणियं] जैसा कहा है [तं] उस (ज्ञान स्वरुप) [अप्पाणं] आत्मा [वियाणेहि] को जानो ।

जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गोत्ति ॥39॥
जीव और अजीव का जो भेद जाने ज्ञानि वह ।
रागादि से हो रहित शिवमग यही है जिनमार्ग में ॥३९॥
अन्वयार्थ : [जीवाजीव] जीव और अजीव के [विहत्तो] भेद को [जो जाणइ] जो [सण्णाणी] जानता है [सो] वह सम्यग्ज्ञानी [हवइ] है, [रायादिदोस] रागादि दोषों [रहिओ] रहित है, [जिणसासणे] जिनशासन में [मोक्ख मग्गुत्ति] मोक्षमार्ग रूप कहा है ।

मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥40॥
तू जान श्रद्धाभाव से उन चरण-दर्शन-ज्ञान को ।
अतिशीघ्र पाते मुक्ति योगी अरे जिनको जानकर ॥४०॥
अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्तं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र [तिण्णिवि] तीनों को [परमसद्धाए] परमश्रद्धा से [जाणेह] जानो, [जं जाणिऊण] जिनको जानकर [जोइ] योगीजन [अइरेण] अल्प-काल में [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहंति] प्राप्त करते हैं ।

निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविशुद्धभावसंजुता
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूड़ामणी सिद्धा ॥41॥
ज्ञानजल में नहा निर्मल शुद्ध परिणति युक्त हो ।
त्रैलोक्यचूड़ामणि बने एवं शिवालय वास हो ॥४१॥
अन्वयार्थ : [णिमल्ल] निर्मल [णाणसलिलं] सम्यग्ज्ञान रूपी जल को [पाऊण] प्राप्त कर, [सुविसुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [भावसंजुत्ता] भावोंयुक्त पुरुष [सिवालयवासी] मोक्षधाम के वासी, [तिहुवण] त्रिलोक के [चूडा मणी] चूड़ामणि समान [सिद्धा] सिद्ध [होंति] होते है ।

गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहिं ॥42॥
ज्ञानगुण से हीन इच्छितलाभ को ना प्राप्त हों ।
यह जान जानो ज्ञान को गुणदोष को पहिचानने ॥४२॥

अन्वयार्थ : [णाणगुणेहिं विहिणा] ज्ञानगुण से हीन [सुइच्छायं] अत्यंत इष्ट (मोक्ष) के [लाहं लहंते ण] लाभ से लाभान्वित नहीं होते [इय गुणदोसं] अत: गुण-दोषों को [णाउं तं सण्णाणं] जानकर उस सम्यज्ञान को [वियाणेहि] भली प्रकार जानो ।

जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥43॥
पर को न चाहें ज्ञानिजन चारित्र में आरूढ़ हो ।
अनूपम सुख शीघ्र पावें जान लो परमार्थ से ॥४३॥

अन्वयार्थ : [णाणी चारित्तसमारूढो] ज्ञानी चारित्र पर आरूढ़ होकर [अप्पासु परं] आत्मा से अन्य (इष्ट पर पदार्थों; स्त्री, सम्पत्ति, पुत्रादि) की [ईहए ण] इच्छा नहीं रखता, [आइरेण अणोवमं] शीघ्र ही अनुपम [सुहं पावइ] सुख को प्राप्त करता है, ऐसा [णिच्छयदो जाण] निश्चित जान ।

चारित्र के कथन का संकोच

एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥44॥
इसतरह संक्षेप में सम्यक्चरण संयमचरण ।
का कथन कर जिनदेव ने उपकृत किये हैं भव्यजन ॥४४॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [संखेवेण] संक्षेप में, [णाणेण] ज्ञानस्वभाव से युक्त, [वीयरायेण] वीतरागीदेव ने [सम्मत्त] सम्यक्त्व और [संजमासय] संयम के आश्रय, [दुण्हं] दो ही [चरणं] आचार (दर्शनाचार और चारित्राचार) [उदेसियं] उद्देशरूप [भणियं] कहा है ।

चारित्रपाहुड़ को भाने का उपदेश और इसका फल

भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुणं चेव
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥45॥
स्फुट रचित यह चरित पाहुड़ पढ़ो पावन भाव से ।
तुम चतुर्गति को पारकर अपुनर्भव हो जाओगे ॥४५॥

अन्वयार्थ : [भावेह] हे भव्य जीवों ! [भावसुद्धं फुडु] शुद्धभाव से स्पष्ट [चरणपाहुड] चरण-प्राभृत [चेव रइयं] और दर्शन प्राभृत रचित है, [चउगइ चइ] चतुर्गतियों का त्याग कर [ऊणं अचिरेण] उनसे शीघ्र ही [ऽपुणव्भवा होइ] पुनर्भव रहित (सिद्ध) हो जाओ ।

ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा

बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे
वंदित्त आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥1॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं
वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणहं ॥2॥

शास्त्रज्ञ हैं सम्यक्त्व संयम शुद्धतप संयुक्त हैं ।
कर नमन उन आचार्य को जो कषायों से रहित हैं ॥१॥
अर सकलजन संबोधने जिनदेव ने जिनमार्ग में ।
छहकाय सुखकर जो कहा वह मैं कहूँ संक्षेप में ॥२॥

अन्वयार्थ : मैं [बहुसत्थअत्थ] अनेक शास्त्रों के अर्थों के [जाणो] ज्ञाता, [संजम] संयम, [सम्मत्त] सम्यक्त्व, [सुद्धतवचरणे] शुद्ध तपश्चरण के धारक, [कसायमल] कषाय रुपी मल से [वज्जिदे] रहित [शुद्ध] निर्मल [आयरिए] आचार्यों को [वंदित्ता] नमस्कार कर [सयलजण] समस्त मनुष्यों को [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [जह] जैसा [भणियं] कहा वैसा [समासेण] संक्षेप में [य] और [छक्काय] षटकाय जीवों के लिये [हियंकरं] हितकारी ('बोधप्राभ्रत' नामक ग्रंथ) [वच्छामि] कहुंगा, [सुणसु] उसे सुनो ।

'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम

आयदणं चेदिहरं, जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं
भणियं सुवीयरायं, जिणुमुद्दा णाणमादत्थं ॥3॥
अरहंतेण सुदिट्ठं, जं देवं तित्थमिह य अरहंतं
पावज्जगुणविसुद्धा, इय णायव्वा जहाकमसो ॥4॥
ये आयतन अर चैत्यगृह अर शुद्ध जिनप्रतिमा कही ।
दर्शन तथा जिनबिम्ब जिनमुद्रा विरागी ज्ञान ही ॥३॥
हैं देव तीरथ और अर्हन् गुणविशुद्धा प्रव्रज्या ।
अरिहंत ने जैसे कहे वैसे कहूँ मैं यथाक्रम ॥४॥

अन्वयार्थ : [आयदणं] १-आयतन, [चेदिहरं] २-चैत्यगृह, [जिणपडिमा] ३-जिनप्रतिमा, [दंसणं] ४-दर्शन, [जिणबिंबं] ५-आगम में [भणियं] प्रतिपादित [सुवीयरायं] अत्यंत वीतराग जिनबिम्ब, [जिणमुद्दा] ६-जिनमुद्रा, [णाणमदत्थं] ७-आत्मस्थज्ञान, [अरहंतेण] ८-अरिहंत सर्वज्ञ वीतराग देवों द्वारा [सुदिट्ठं] अच्छी प्रकार [मिह] प्रतिपादित [देवं] देव का स्वरुप, [य] और [तित्थ] ९-तीर्थ, [अरर्हतं] १०-अरिहंतस्वरुप का निरूपण और [पावज्ज गुणविसुद्धा] ११-गुणों से युक्त विशुद्ध प्रवज्या (दीक्षा) [जहाकमसो] क्रमशः (११अधिकार), [इय] इस (बोध प्राभृत) ग्रन्थ में [णायव्वा] जानो ।

आयतन का निरूपण

मणवयणकायदव्वा आयत्त जस्स इन्दिया विसया
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥5॥
आधीन जिनके मन-वचन-तन इन्द्रियों के विषयसब ।
कहे हैं जिनमार्ग में वे संयमी ऋषि आयतन ॥५॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके [दव्वा] द्रव्य-रूप [मणवयणकाय] मन, वचन, काय और [इंदियाविसया] इन्द्रियों के विषय [आयत्ता] अधीन है, ऐसे [संजयंरूवं] संयत रूप (मुनि) को [जिणमग्गे] जिनमार्ग / जिनागम में [आयदणं] आयतन [णिद्दिट्ठं] निर्दिष्ट है ।

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्त
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥6॥
हो गये हैं नष्ट जिनके मोह राग-द्वेष मद ।
जिनवर कहें वे महाव्रतधारी ऋषि ही आयतन ॥६॥

अन्वयार्थ : [मय] मद, [रायदोस] राग-द्वेष, [मोहो] मोह, [कोहो] क्रोध [य] और [लोहो] लोभ, [जस्स] जिसके [आयत्ता] आधीन है ऐसे [पंचमहावयधारी] पंचमहाव्रती, महर्षि [आयदणं] आयतन [भणियं] कहे गए है ।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥7॥
जो शुक्लध्यानी और केवलज्ञान से संयुक्त हैं ।
अर जिन्हें आतम सिद्ध है वे मुनिवृषभ सिद्धायतन ॥७॥
अन्वयार्थ : [विसुद्धझाणस्स] विशुद्ध ध्यान सहित, [णाणजुत्तस्स] केवल ज्ञान से युक्त [मुणिवर] जिस श्रेष्ठ मुनि के [सदत्थं] निजात्मस्वरूप [सिद्धंजस्स] सिद्ध हुआ है या जिन्होंने [वसहस्स] छह द्रव्यों, सात तत्वों, नव पदार्थों को [मुणिदत्थं] अच्छी तरह जान लिया है उन्हे [सिद्धायदणं] सिद्धायतन [सिद्धं] कहा है ।

चैत्यगृह का निरूपण

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥8॥
जानते मैं ज्ञानमय परजीव भी चैतन्यमय ।
सद्ज्ञानमय वे महाव्रतधारी मुनी ही चैत्यगृह ॥८॥
अन्वयार्थ : [जं] जो [बुद्धं] ज्ञानयुक्त [अप्पाणं] आत्मा को [वोहंतो] जानते हैं [च] और [अण्णं] अन्यों को भी उसका [चेइयाइं] बोध कराते हैं, [पंचममहव्वय] पंचमहाव्रतों से [सुद्धं] शुद्ध [णाणमयं] ज्ञानमय हैं, ऐसे (मुनि) को [चेदिहरं] चैत्यगृह [जाण] जानो ।
चेइयं बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥9॥
मुक्ति-बंधन और सुख-दु:ख जानते जो चैत्य वे ।
बस इसलिए षट्काय हितकर मुनी ही हैं चैत्यगृह ॥९॥
अन्वयार्थ : [बंधं] बंध [मोक्खं] मोक्ष [दुक्खं] दुख [च] और [सुक्खं] सुख जिसको होते हैं [तस्स] वह [अप्पयं] जीव [चेइय] चैत्य है, [चेइहरं] चैत्यगृह [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [छक्काय] षटकाय के जीवों के लिये, [हियंकरं] हितकारी [भणियं] कहा है ।

जिनप्रतिमा का निरूपण

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥10॥
सद्ज्ञानदर्शनचरण से निर्मल तथा निर्ग्रन्थ मुनि ।
की देह ही जिनमार्ग में प्रतिमा कही जिनदेव ने ॥१०॥
अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में -- [सपरा] स्व और पर से [जंगमदेहा] चलती हुई देह सहित, [दंसणणाणेण] सम्यग्दर्शन-ज्ञान से [सुद्धाचरणाणं] शुद्ध आचरण (सम्यक्चारित्र) धारक [णिग्गंथ] निर्ग्रंथ, [वीयराया] वीतरागी, [एरिसा] ऐसी [पडिमा] प्रतिमा (जिनबिंब) है ।
जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥11॥
जो देखे जाने रमे निज में ज्ञानदर्शन चरण से ।
उन ऋषीगण की देह प्रतिमा वंदना के योग्य है ॥११॥
अन्वयार्थ : [जं] जो [सुद्धचरणं] निरतिचार (शुद्ध) चारित्र का [चरदि] पालन करते है, [सुद्धसम्मतं] शुद्ध सम्यक्त्व (सम्यक-ज्ञान और दर्शन) द्वारा [जाणइ] जानते हैं, [पिच्छेइ] देखते हैं, ऐसे [णिग्गंथा] निर्ग्रन्थ [संजदा] संयमी मुनियों को [पडिमा] प्रतिमा कहा है, [सा] वे [वंदणीया] वन्दनीय [होइ] हैं ।
दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य

सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥12॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥13॥
अनंतदर्शनज्ञानसुख अर वीर्य से संयुक्त हैं ।
हैं सदासुखमय देहबिन कर्माष्टकों से युक्त हैं ॥१२॥
अनुपम अचल अक्षोभ हैं लोकाग्र में थिर सिद्ध हैं ।
जिनवर कथित व्युत्सर्ग प्रतिमा तो यही ध्रुव सिद्ध है ॥१३॥

अन्वयार्थ : [दंसण] अनन्त-दर्शन, [अणंतणाणं] अनन्त-ज्ञान, [अणंतवीरिय] अनन्त-वीर्य, [अणंतसुक्खाय] अनन्त-सुख, [सासयसुक्ख] शाश्वत (अविनाशी) सुख-युक्त, [अदेहा] अशरीरी और [कम्मट्ठ] अष्टकर्मों के [बंधेहिं] बंधन से [मुक्का] मुक्त, [णिरुवमं] उपमा रहित, [अचलम्] अचल, [अखोहा] क्षोभ-रहित, [जंगमेण रूवेण] जंगम-रूप से [निम्मिविया] निर्मित हैं, सिद्ध [ठाणम्मि] स्थान में [ठिया] स्थित [धुवा] ध्रुव, सिद्ध-परमेष्टी को [वोसरपडिमा] स्थावर-प्रतिमा कहते हैं ।

दर्शन का स्वरूप

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥14॥
सम्यक्त्व संयम धर्ममय शिवमग बतावनहार जो ।
वे ज्ञानमय निर्ग्रन्थ ही दर्शन कहे जिनमार्ग में ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [मोक्खमग्गं] मेक्षमार्ग [दंसेइ] दिखलाता है अर्थात् [सम्मत्तं] सम्यक्दर्शन, [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमं] संयम, [सुधम्मं] दस-लक्षण धर्म [च] और [णिग्गथं] परिग्रह रहित (चारित्र) [जिणमग्गे] जिनमार्ग मे उसे [दंसणं] दर्शन [भणियं] कहा है ।

जह फुल्लं गंधमयं भवति हु खीरं स घियमयं चावि
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥15॥
दूध घृतमय लोक में अर पुष्प हैं ज्यों गंधमय ।
मुनिलिंगमय यह जैनदर्शन त्योंहि सम्यक् ज्ञानमय ॥१५॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फुल्लं] फूल [गंधमयं] गन्धमय [स] और [खीरं] दूध [धियमयं] घृतमय [भवदि] होता है, [तह] वैसे [दंसणं] दर्शन [हि] भी [सम्मंणाणमयं] सम्यग्ज्ञानमय, [रूवत्थं] रुपस्थ (मुनि, श्रावक, श्राविका और असंयत सम्यग्दृष्टि रूप) [होइ] होता है ।

जिनबिंब का निरूपण

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च
जं देह दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥16॥
जो कर्मक्षय के लिए दीक्षा और शिक्षा दे रहे ।
वे वीतरागी ज्ञानमय आचार्य ही जिनबिंब हैं ॥१६॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमशुद्धं] संयम से शुद्ध, [सवीयरायं] परम वीतरागी हैं [च] तथा [दिक्खसिक्खा] दीक्षा-शिक्षा [देइ] देते है, [कम्मक्खय] कर्म-क्षय में [कारणे] कारण हैं और [सुद्धा] शुद्ध हैं वे (आचार्य परमेष्ठी) [जिणबिम्बं] जिनबिम्ब हैं ।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥17॥
सद्ज्ञानदर्शन चेतनामय भावमय आचार्य को ।
अतिविनय वत्सलभाव से वंदन करो पूजन करो ॥१७॥

अन्वयार्थ : [तस्स] उनको (आचार्य परमेष्ठी को), सब प्रकार (अष्ट द्रव्य)से [पणामं] प्रणाम करो, [सव्वं] सर्व प्रकार से [पुज्जं] पूजा

करो, [य] और उनके प्रति [विणय] विनय तथा [वच्छल्लं] वात्सल्य-भाव रखो, [जस्स] जिनके [दंसणणाणं] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है तथा [धुवं] निश्चित रूप से [चेयणाभावो] चेतना भाव अर्थात आत्म-स्वरूप की उपलब्धि [अस्थि] विद्यमान है ।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥18॥
व्रततप गुणों से शुद्ध सम्यक्भाव से पहिचानते ।
दें दीक्षा शिक्षा यही मुद्रा कही है अरिहंत की ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [तववयगुणेहिं] तप, व्रत और गुणों से [सुद्धो] शुद्ध हैं, [सुद्धसम्मतं] शुद्ध सम्यक्त्व द्वारा [जाणदि] जानते है, [पीच्छेइ] देखते है, [ऐसा] ऐसी [अरहंतमुद्द] अरहन्त मुद्रा (जिनबिम्ब) [दिक्ख] दीक्षा [य] [सिक्खा] शिक्षा [दायारी] देने वाली है ।

जिनमुद्रा का स्वरूप

दढसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदिढमुद्दा
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्रा एरिसा भणिया ॥19॥
निज आतमा के अनुभवी इन्द्रियजयी दृढ़ संयमी ।
जीती कषायें जिन्होंने वे मुनी जिनमुद्रा कही ॥१९॥

अन्वयार्थ : [संजम] संयम की [दढ] दृढ [मुद्दाए] मुद्रा, [इदियमुद्दा] इन्द्रियों का संकोच, [कसायदढमुद्दा] कषायों पर दृढ नियंत्रण, [णाणाए] सम्यग्ज्ञान की [मुद्दा] मुद्रा, [एरिसा] ऐसी [जिणमुद्दा] जिनमुद्रा कही गई है ।

ज्ञान का निरूपण

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥20॥
संयमसहित निजध्यानमय शिवमार्ग ही प्राप्तव्य है ।
सद्ज्ञान से हो प्राप्त इससे ज्ञान ही ज्ञातव्य है ॥२०॥

अन्वयार्थ : [संजमसंजुत्तस्स] संयम सहित [य] और [सुझाणजोयस्स] उत्तम-ध्यान के योग्य, [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव की प्राप्ति) [णाणेण] ज्ञान से ही [लहदि] प्राप्त होता है [तम्हा] इसलिए [णाणं] ज्ञान को [णायव्वं] जानना चाहिए ।

इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥21॥
है असंभव लक्ष्य बिधना बाणबिन अभ्यासबिन ।
मुक्तिमग पाना असंभव ज्ञानबिन अभ्यासबिन ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [वेज्जय] वेधक बाण [विहीणो] विहिन और [कंडस्स] धनुष के अभ्यास से [रहिओ] रहित [लक्खं] लक्ष्य को [णवि] नहीं [लहदि] प्राप्त करता [तह] उसी प्रकार [अण्णाणी] ज्ञान से रहित (अज्ञानी) [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग के [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव) को [णवि] नहीं [लक्खदि] प्राप्त करता है ।

इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है

णाणं पुरिस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्ते
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥22॥
मुक्तिमग का लक्ष्य तो बस ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
इसलिए सविनय करें जन-जन ज्ञान की आराधना ॥२२॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [पुरिसस्स] पुरुष को [हवदि] होता है, [विणयसंजुत्तो] विनय से संयुक्त [सुपुरिसो] सत्पुरुष ही ज्ञान [लहदि] प्राप्त करता है, [णाणेण] ज्ञान से [लक्खं] लक्ष्य [लहदि] प्राप्त होता है जो [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खंतो] लक्ष्य (निजात्मस्वरूप) है ।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं
परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥23॥
मति धनुष श्रुतज्ञान डोरी रत्नत्रय के बाण हों ।
परमार्थ का हो लक्ष्य तो मुनि मुक्तिमग नहीं चूकते ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस मुनि के [मइधणु] मति-ज्ञान-रूप धनुष [थिरं] स्थिर हो, [सद्गुण] श्रुत-ज्ञान-रूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, [रयणत्तं] रत्नत्रय-रूप [सुअत्थि] उत्तम [बाणा] बाण हो और [परमत्थ] परमार्थ-स्वरूप / निज-शुद्धात्म-स्वरूप का [बद्ध] संबंध-रूप [लक्खो] लक्ष्य हो, वह मुनि [मोक्खमग्गस्स] मोक्ष-मार्ग में [णवि] नहीं [चुक्कदि] चूकता है ।

देव का स्वरूप

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामांशुदेइ णाणं च
सो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पवज्ज ॥24॥
धर्मार्थ कामरु ज्ञान देवे देव जन उसको कहें ।
जो हो वही दे नीति यह धर्मार्थ कारण प्रव्रज्या ॥२४॥

अन्वयार्थ : [सो] वह [देवो] देव है, जो [सु] भली प्रकार [अत्थं] अर्थ, [धम्मं] धर्म, [कामं] काम [च] और [णाणं] ज्ञान [देइ] देते है । [जस्स] जिसके पास [अत्थि] है [सो] वही [देइ] देता है इस न्याय से जिनके पास [अत्थो धम्मो] अर्थ, धर्म, [य] काम और [पव्वज्जा] दीक्षा / ज्ञान है उनको 'देव' जानो ।

धर्मादिक का स्वरूप

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्ज सव्वसंगपरिचत्त
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥25॥
सब संग का परित्याग दीक्षा दयामय सद्धर्म हो ।
अर भव्यजन के उदय कारक मोह विरहित देव हों ॥२५॥

अन्वयार्थ : जो [दयाविसुद्धो] दया से विशुद्ध है वह [धम्मो] धर्म है, जो [सव्वसंगपरिचत्ता] सर्व परिग्रह से रहित है वह [पव्वज्जा] प्रव्रज्या है, जिसका [ववगयमोहो] मोह नष्ट हो गया है वह [देवो] देव है, वह [भव्वजीवाणां] भव्य जीवों के [उदययरो] उदय को करनेवाला है ।

तीर्थ का स्वरूप

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेंदियसंजदे णिरावेक्खे
ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥26॥
सम्यक्त्वव्रत से शुद्ध संवर सहित अर इन्द्रियजयी ।
निरपेक्ष आतमतीर्थ में स्नान कर परिशुद्ध हों ॥२६॥

अन्वयार्थ : [वय] व्रत [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विसुद्धे] विशुद्ध और [पंचदिय] पाँच इन्द्रियों से [संजदे] संयत अर्थात् संवरसहित तथा [णिरावेक्खे] निरपेक्ष (ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोक के फल की तथा परलोक में स्वर्गादिक के भोगों की अपेक्षा से रहित) [मुणी] मुनि [तित्थेप] आत्म-स्वरूप तीर्थ में [दिक्खासिक्खा] दीक्षा-शिक्षा-रूप [सुण्हाणेण] उत्तम स्नान से [ण्हाएउ] नहाओ ।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं

तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि सतिभावेण ॥27॥

यदि शान्त हों परिणाम निर्मलभाव हों जिनमार्ग में ।

तो जान लो सम्यक्त्व संयम ज्ञान तप ही तीर्थ है ॥२७॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में वह तीर्थ है [जं] जो [णिम्मलं] निर्मल [सुधम्मं] उत्तम-क्षमादिक धर्म तथा [सम्मत्तं] तत्त्वार्थ-श्रद्धान-लक्षण शंकादि मल-रहित निर्मल सम्यक्त्व तथा [संजमं] इन्द्रिय व प्राणी संयम तथा [तवं] बारह प्रकार के निर्मल तप और [णाणं] जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, [तं] ये [तित्थं] 'तीर्थ' हैं, ये भी [जदि] यदि [संतिभावेण] शांत-भाव सहित [हवेइ] होता है तो ।

अरहंत का स्वरूप

णामे ठवणे हि संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया

चउणागदि संपदिमे1 भावा भावंति अरहंतं ॥28॥

नाम थापन द्रव्य भावों और गुणपर्यायों से ।

च्यवन आगति संपदा से जानिये अरिहंत को ॥२८॥

अन्वयार्थ : [णामे] नाम, [ठवणे] स्थापना, [य] और [संदव्वे] द्रव्य, [भावेहि] भाव से, [सगुणपज्जाया] गुण पर्यायों से तथा [चउणा] गमन (स्वर्ग/नरक से च्युत होकर) और [आगदि] आगमन (भरतादि क्षेत्र में) व [संपदिम] सम्पदा (रत्न-वर्षा आदि) से [भावा] भव्य जीव [अरंहंतं] अरहंत भगवान का [भावंति] चितन करते हैं ।

नाम को प्रधान करके कहते हैं

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण

णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥29॥

अनंत दर्शन ज्ञानयुत आरूढ़ अनुपम गुणों में ।

कर्माष्ट बंधन मुक्त जो वे ही अरे अरिहंत हैं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [दंसणं अणंताणाणे] अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान से [णट्ठटट्ठकम्मबंधेण] अष्ट-कर्मों का बंध नष्ट होने होने से, [मोक्खो] भाव-मोक्ष प्राप्त, [णिरुवम गुणमारूढो] अनुपम गुणों से सहित [एरिसो अरहंतो होई] ऐसे अरिहंत होते हैं ।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च

हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥30॥

जन्ममरणजरा चतुर्गतिगमन पापरु पुण्य सब ।

दोषोत्पादक कर्म नाशक ज्ञानमय अरिहंत हैं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जर वाहि जम्म मरणं] बुढ़ापा, व्याधि / रोग, जन्म, मरण, [चउगइगमणं च] चतुरगति मे गमन और [पुण्णपावं च] पुण्य, पाप, और [दोस हंतूण च कम्मे] (१८) दोष रहित और कर्म रहित [णाणमयं अरहंतो] ज्ञानमय 'अरहंत' हैं ।

स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं

ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥31॥

गुणथान मार्गणथान जीवस्थान अर पर्याप्ति से ।

और प्राणों से करो अरहंत की स्थापना ॥३१॥

अन्वयार्थ : [गुणठाणमग्गणेहिं] गुणस्थान, मार्गणा, [य] और [पज्जत्तीपाण] पर्याप्ति, प्राण [जीवठाणेहिं] जीवस्थान, [पंचविहेहिँ] पांच प्रकार से [अरूहपुरीसस्स] अरिहंत भगवान् की [ठावण] स्थापना का [पणयव्वा] वर्णन करना चाहिये ।

गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो

चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥32॥

आठ प्रातिहार्य अरु चौंतीस अतिशय युक्त हों ।

सयोगकेवलि तेरवें गुणस्थान में अरहंत हों ॥३२॥

अन्वयार्थ : [अरहंतो] अरिहंत भगवान्, [तेरहमे] तेरहवे [गुणठाणे] गुणस्थान में [सजोइकेवलिय] सयोगकेवलि [होइ] होते है । उनके [चउतीस] चौंतीस [अइसयगुणा] अतिशय गुण तथा [हु तस्सट्ठ] उनके आठ [पडिहारा] प्रातिहार्य [होंति] होते हैं ।

मार्गणा में अरिहंत की स्थापना

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य

संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥33॥

गति इन्द्रिय कायरु योग वेद कसाय ज्ञानरु संयमा ।

दर्शलेश्या भव्य सम्यक् संज्ञिना आहार हैं ॥३३॥

अन्वयार्थ : १४ मार्गणा -- [गइ] गति, [इंदियं] पंचेन्द्रियों, [काए] काय, [जोए] योग, [वेए] वेद, [कसाय] कषाय, [णाणे] ज्ञान, [संजम] संयम, [दंसण] दर्शन, [लेस्सा] लेश्या, [भविया] भव्यत्व, [सम्मत] सम्यक्त्व, [सण्णि] संज्ञित्व, [च] और [आहारे] आहारक, इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरिहंत भगवान् की स्थापना करनी चाहिए ।

पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना

आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य

पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥34॥

आहार तन मन इन्द्रि श्वासोच्छ्वास भाषा छहों इन ।

पर्याप्तियों से सहित उत्तम देव ही अरहंत हैं ॥३४॥

अन्वयार्थ : [आहारो] आहार, [य] और [सरीरो] शरीर, [तह] तथा [इंदिय] इन्द्रिय, [आणपाण] श्वासोच्छ्वास, [भासा] भाषा, [य] और मन; -- इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं, इस [पज्जत्तिगुण] पर्याप्ति गुण द्वारा [समिद्धो] समृद्ध अर्थात् युक्त [उत्तमदेवो] उत्तम देव [अरहो] अरहंत [हवइ] होते हैं ।

प्राण में अरिहंत की स्थापना

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा

आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥35॥

पंचेन्द्रियों मन-वचन-तन बल और श्वासोच्छ्वास भी ।

अर आयु-इन दश प्राणों में अरिहंत की स्थापना ॥३५॥

अन्वयार्थ : [पंचवि] पाँच [इंदियपाणा] इन्द्रिय-प्राण, [मनवयकाएण] मन-वचन-काय [तिण्णि] तीन [बलपाणा] बल-प्राण, एक [आणप्पाणप्पाणा] श्वासोच्छ्वास-प्राण और एक [आउगपाणेण] आयु-प्राण ये [दह] दस [पाणा] प्राण [होंति] होते हैं ।

जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे

एदे गुणगणजुत्ते गुणमारूढो हवइ अरहो ॥36॥

सैनी पंचेन्द्रियों नाम के इस चतुर्दश जीवस्थान में ।

अरहंत होते हैं सदा गुणसहित मानवलोक में ॥३६॥

अन्वयार्थ : [मणुयभवे] मनुष्य-भव में [पंचिंदिय] पंचेन्द्रिय नाम के [चउदसमे] चौदहवें [जीवट्ठाणेसु] जीवस्थान अर्थात् जीव-समास [होइ] होते हैं, [एवे] इतने [गुणगण] गुणों के समूह से [जुत्तो] युक्त तेरहवें [गुणमारूढो] गुणस्थान में आरूढ़ अरहंत [हवइ] होते हैं ।

द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं
सिंहाण खेले सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥37॥
दस पाणा पज्जती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥38॥
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥39॥

अन्वयार्थ : अरहंत पुरुष के औदारिक काय इसप्रकार होता है, जो [जर] बुढापा, [वाहि] व्याधि और रोग संबंधी [दुक्खरहियं] दु:ख से रहित है, [आहारणिहार] आहार, मल-मूत्र विसर्जन से [वज्जियं] रहित है, [विमलं] मलमूत्र रहित है; [सिंहाण] श्लेष्म, [खेल] थूक-कफ, [सेओ] पसेव और दुर्गन्ध अर्थात् जुगुप्सा, [दुगंछा] ग्लानि [य] और दुर्गन्धादि [दोसो] दोष उसमें [णत्थि] नहीं है ॥३७॥
[दसपाणा] दस तो उसमें प्राण होते हैं वे द्रव्यप्राण हैं, [पज्जती] पूर्ण पर्याप्ति है, [अट्ठसहस्सा] एक हजार आठ [लक्खणा] लक्षण [भणिया] कहे हैं और [सव्वंगे] सर्वांग में [गोखीर] गाय के दूध तथा [संख] शंख जैसा [धवलंमंसं] धवल [रूहिरं] रुधिर और [मंसं] मांस है ॥३८॥
[एरिस] इसप्रकार [गुणेहिं] गुणों से संयुक्त [सव्वं] सर्व ही देह [अइसयवंतं] अतिशयसहित [सुपरिमलामोयं] उत्तम सुगन्ध से परिपूर्ण है, आमोद **अर्थ**ात् सुगंध जिसमें इसप्रकार [अरहपुरिसस्स] अरहंत पुरुष [ओरालियं] औदारिक [कायं] देह के [णायव्वं] जानो ॥३९॥
मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविशुद्धो
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥40॥
सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया
सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥41॥
राग-द्वेष विकार वर्जित विकल्पों से पार हैं ।
कषायमल से रहित केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥४०॥
सद्दृष्टि से सम्पन्न अर सब द्रव्य-गुण-पर्याय को ।
जो देखते अर जानते जिननाथ वे अरिहंत हैं ॥४१॥

अन्वयार्थ : अरिहन्त भगवान भाव निक्षेप की अपेक्षा -- [मय] मद (ज्ञानादि ८), [राय] राग (ममता रूप परिणामों), [दोस] दोष (क्षुधादि १८) [रहिओ] रहित, [कसायमल] कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), नोकषाय (हास्य, रति, अरती, शोक, भय, जुगुप्सा, त्रिवेद -- ९) [वज्जिओ] रहित, [सुविसुद्धो] अत्यंतविशुद्ध, [चित्तपरिणाम] मन के व्यापार [रहियो] रहित [य] और [केवलभावे] केवल ज्ञानादि (क्षायिक) भावों से [मुणेयव्वो] युक्त जानने चाहिए ।
[सम्मद्दंसणि] सम्यग्दर्शन से तो अपने को तथा सबको सत्तमात्र [पस्सइ] देखते हैं, इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, [गाणेण] ज्ञान से सब [दव्वपज्जाया] द्रव्य-पर्यायों को [जाणदि] जानते हैं, जिनको [सम्मत] सम्यक्त्व [गुणविसुद्धो] गुण से विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है, इसप्रकार [अरहस्स] अरहंत को [भावो] भाव-निक्षेप से [णायव्वो] जानना चाहिए ।

प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥42॥

1सवसासत्तं तित्थं 2वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं
जिणभवणं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥43॥
पंचमहव्वयजुत्त पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा
सज्झायझाणजुत्त मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥44॥
शून्यघर तरुमूल वन उद्यान और मसान में ।
वसतिका में रहें या गिरिशिखर पर गिरिगुफा में ॥४२॥
चैत्य आलय तीर्थ वच स्ववशासक्तस्थान में ।
जिनभवन में मुनिवर रहें जिनवर कहें जिनमार्ग में ॥४३॥
इन्द्रियजयी महाव्रतधनी निरपेक्ष सारे लोक से ।
निजध्यानरत स्वाध्यायरत मुनिश्रेष्ठ ना इच्छा करें ॥४४॥

अन्वयार्थ : [सुण्ण] सूना [हरे] घर, [तरु] वृक्ष का [हिट्ठे] मूल, कोटर, [उज्जाणे] उद्यान, वन, [तह] तथा [मसाणवासे] श्मशानभूमि, [गिरिगुह] पर्वत की गुफा, [गिरिसिहरे] पर्वत का शिखर, [वा] या [भीमवजे] भयानक वन [अहव] अथवा [बसिते] वस्तिका - इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें ।

[सवसासत्तं] स्ववशासक्त **अर्थ**ात् स्वाधीन मुनियों से आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रों में मुनि ठहरे । जहाँ से मोक्ष पधारे इसप्रकार तो [तित्थं] तीर्थस्थान और [वचचइदालत्तयंच] वच (आयतन आदिक परमार्थरूप संयमी मुनि, अरहंत, सिद्धस्वरूप उनके नाम के अक्षररूप 'मंत्र' तथा उनकी आज्ञारूप वाणी), चैत्य (उनके आकार धातु-पाषाण की प्रतिमा स्थापन), आलय (प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें स्थापित किये जाते हैं, इसप्रकार आलय-मंदिर) [बुत्तेहिं] कहा गया है अर्थात् तथा को 'चैत्य' कहते हैं और वह यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलय का त्रिक है अथवा [जिणभवणं] जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार उसे [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरा] जिनवर देव [वेज्झं] दीक्षासहित मुनियों के ध्यान करने योग्य, चिन्तवन करने योग्य [विंति] जानते हैं ।

[वसहा] श्रेष्ठ [मुणिवर] मुनिराज [पंचमहव्वयजुत्ता] पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, [पंचिदियसंजया] पाँच इन्द्रियों को भले प्रकार जीतनेवाले हैं, [णिरावेक्खा] निरपेक्ष हैं, [णिइच्छन्ति] किसीप्रकार की वांछा से मुनि नहीं हुए हैं, [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाणजुत्ता] ध्यानयुक्त हैं ।

प्रव्रज्या का स्वरूप

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकषाया
पावारंभविमुक्का पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥45॥
परिषहजयी जितकषायी निर्ग्रन्थ है निर्मोह है ।
है मुक्त पापारंभ से ऐसी प्रव्रज्या जिन कही ॥४५॥

अन्वयार्थ : [गिह] गृह (घर) और [गन्थ] ग्रंथ (परिग्रह) इन दोनों से मुनि तो [मोहमुक्का] मोह / ममत्व / इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित ही है, जिनमें [वावीसपरीसहा] बाईस परीषहों का सहना होता है, [जियकसाया] कषायों को जीतते हैं और [पावरंभ] पापरूप आरंभ से [विमुक्का] रहित हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या जिनेश्वरदेव ने [भणिया] कही है ।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्तइं
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥46॥
धन-धान्य पट अर रजत-सोना आसनादिक वस्तु के ।
भूमि चंवर-छत्रादि दानों से रहित हो प्रव्रज्या ॥४६॥

अन्वयार्थ : [धण] धन, [धण्ण] धान्य, [वत्थ] वस्त्र इनका [दाणं] दान, [हिरण्य] सोना आदिक, [सयणा] शय्या, [सणाइ] आसन [छत्ताइं] छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि [कुद्दाण] कुदानों से [विरहरहिया] रहित [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा
तणकणए समभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥47॥
जिनवर कही है प्रव्रज्या समभाव लाभालाभ में ।
अर कांच-कंचन मित्र-अरि निन्दा-प्रशंसा भाव में ॥४७॥
अन्वयार्थ : [सत्तू] शत्रु [व] और [मित्ते] मित्र में [समा] समभाव है, [पसंसणिंदा] प्रशंसा-निन्दा में, [अलद्धिलद्धि] अलाभ-लाभ में और [तणकणए] तृण-कंचन में [समभावा] समभाव है । [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।
उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥48॥
प्रव्रज्या जिनवर कही सम्पन्न हों असंपन्न हों ।
उत्तम मध्यम घरों में आहार लें समभाव से ॥४८॥
अन्वयार्थ : [उत्तम] शोभा सहित राजभवनादि और [मज्झिम] मध्यम [गेहे] घरों में, तथा [दारिद्दे] दरिद्र [ईसरे] धनवान् इनमें [णिरावेक्खा] निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, [सव्वत्थ] सब ही योग्य जगह पर [गिहिदपिंडा] आहार ग्रहण किया जाता है, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।
णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥49॥
निर्ग्रन्थ है नि:संग है निर्मान है नीराग है ।
निर्दोष है निरआश है जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥४९॥
अन्वयार्थ : [णिग्गंथा] निर्ग्रंथ / परिग्रह से रहित, [णिस्संगा] निस्संग / स्त्री आदि के संसर्ग रहित, [णिम्माणासा] तृष्णा से रहित / आठ मदों से रहित, [अराय] रागरहित, [णिद्दोसा] निर्दोषा / निर्द्वेशा, [णिम्मम] ममत्व रहित भाव, [णिरहंकार] अहंकार रहित [पव्वज्जा एरिसा भणिया] इसप्रकार दीक्षा कही है ।
णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥50॥
निर्लोभ है निर्मोह है निष्कलुष है निर्विकार है ।
निस्नेह निर्मल निराशा जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५०॥
अन्वयार्थ : [णिण्णेहा] निस्नेही, [णिल्लोहा] निर्लोभी, [णिम्मोहा] निर्मोही, [णिव्वियार] निर्विकार, [णिक्कलुसा] निकलुष, [णिब्भय] भय, [णिरासभावा] आशाभाव रहित और निराश भाव सहित, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] जिन दीक्षा [भणिय] कही गई है ।

दीक्षा का बाह्यस्वरूप

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता
परकियणिलयणिवासा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥51॥
शान्त है है निरायुध नग्नत्व अवलम्बित भुजा ।
आवास परकृत निलय में जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५१॥
अन्वयार्थ : [जहजायरूव] तत्काल जन्मे बालक के नग्नरूप [सरिसा] सदृश्य, [भुअ] भुजाये (हाथ) [अवलंबिय] जिसरूप मे नीचे को लटकी रहती है(कायोत्सर्ग मे), तथा [णिराउहा] निरायुध / शस्त्रो से रहित या [संता] शांत है, [परकिय] अन्यों द्वारा निर्मित [णिलय] उपाश्रय मे [णिवासा] निवास करते हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वजा] दीक्षा का स्वरुप [भणिया] बताया है ।
उवसमखमदमजुत्त सरीरसंकारवज्जिया रुक्खा
मयरायदोसरहिया पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥52॥
उपशम क्षमा दम युक्त है शृंगारवर्जित रूक्ष है ।

मदरागरुस से रहित है जिनप्रव्रज्या ऐसी कही ॥५२॥

अन्वयार्थ : [उवसम] उपशम / मोहकर्म के उदय का अभावरूप शांतपरिणाम, [खम] कषायों के शमन और [दम] इन्द्रिय और मन के दमन [जुत्ता] युक्त, [सरीरसंस्कार] शरीर के संस्कार [वज्जिया] रहित [रुक्खा] रुक्ष अर्थात् तेल आदि का मर्दन शरीर के नहीं है, [मय] मद और [रायदोस] राग द्वेष से [रहिया] रहित [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्त

सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥53॥

मूढ़ता विपरीतता मिथ्यापने से रहित है ।

सम्यक्त्व गुण से शुद्ध है जिन प्रवज्या ऐसी कही ॥५३॥

अन्वयार्थ : [विवरीय] विपरीतता-रूप, [मूढभावा] मूढ भाव, [कम्मट्ठ] अष्टकर्म, और [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [पणट्ठ] नष्ट होकर [सम्मत्तगुणविसुद्धा] सम्यक्त्व गुणों से विशुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

जिणमग्गे पव्वज्ज छहसंहणणेसु भणिय णिग्गंथा

भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥54॥

जिनमार्ग में यह प्रव्रज्या निर्ग्रन्थता से युक्त है ।

भव्य भावे भावना यह कर्मक्षय कारण कही ॥५४॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिन मार्ग मे [पव्वज्जा] दीक्षा, [छहसंघयणेसु] छहों संहनन में [भणिय] कही है, [णिग्गंथा] निर्ग्रंथ अपरिग्रहीयों के [भव्वपुरिसा] भव्य पुरुष ही इसकी [भावंति] भावना करते हैं, [कम्मक्खय] कर्म क्षय में [कारणे] कारण [भणिया] कही है ।

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरग्गंधसंगहो णत्थि

पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥55॥

जिसमें परिग्रह नहीं अन्तर्बाह्य तिलतुषमात्र भी ।

सर्वज्ञ के जिनमार्ग में जिनप्रव्रज्या ऐसी कही ॥५५॥

अन्वयार्थ : [तिलओसत्त] तिल-तुष मात्र सत्व का [निमित्तं] कारण इसप्रकार भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और तिल-तुष [समवाहिर] बराबर भी बाह्य [गंथ] परिग्रह का [संगहो] संग्रह मुनि के [णत्थि] नहीं है, [एसा] वही [पावज्ज] दीक्षा [हवइ] है [जह] जैसी [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी /सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने [भणिय] कही है ।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च 1अत्थइ

सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥56॥

परिषह सहें उपसर्ग जीतें रहें निर्जन देश में ।

शिला पर या भूमितल पर रहें वे सर्वत्र ही ॥५६॥

अन्वयार्थ : [उवसग्ग] उपसर्ग और [परिसह] परिषह का सहना, [णिच्च] निरंतर [णिज्जणदेसे] निर्जन (मनुष्य रहित) स्थानों पर [हि] ही [अत्थेइ] रहना, [सव्वत्थ] सर्वत्र [सिल] शिला, [कट्ठे] काष्ट, [भूमितले] भूमि तल पर [सव्वे] इस सब प्रदेशों में [आरुहइ] रहना, इसप्रकार जिनदीक्षा कही है ।

अन्य विशेष

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ

सज्झायझाणजुत्त पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥57॥

पशु-नपुंसक-महिला तथा कुस्शीलजन की संगति ।

ना करें विकथा ना करें रत रहें अध्ययन-ध्यान में ॥५७॥

अन्वयार्थ : [पसु] पशु, [महिल] महिला, [संढ] नपुंसको के [संगं] साथ, [कुसीलसंगं] कुशील मनुष्यो के साथ [विकहाओ] विकथा [ण] नहीं [कुणइ] करते हैं, तथा [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाण] ध्यान [जुत्ता] युक्त [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही

है ।
तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥58॥
सम्यक्त्व संयम तथा व्रत-तप गुणों से सुविशुद्ध हो ।
शुद्ध हो सद्गुणों से जिन प्रव्रज्या ऐसी कही ॥५८॥
अन्वयार्थ : [तव] अन्तरंग और बहिरंग तप, [वय] महाव्रत और [गुणेहिं] उत्तर-गुणों से [सुद्धा] शुद्ध (निरतिचार), [संजम] इन्द्रिय और प्राणी संयम, [सम्मत्त] सम्यक्त्व [गुणविसुद्धा] गुण से विशुद्ध (निर्दोष सम्यग्दर्शन) [य] और [सुद्धा] निर्दोष [गुणेहिं] मूलगुणों से शुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।
एवं 1आयत्तणगुणपज्जंता बहुविसुद्धसम्मत्ते
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥59॥
आयतन से प्रव्रज्या तक यह कथन संक्षेप में ।
सुविशुद्ध समकित सहित दीक्षा यों कही जिनमार्ग में ॥५९॥
अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार पूर्वोक्त, [णिग्गंथे] निर्ग्रंथ दीक्षा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [संखेवेणं] संक्षेप मे, [बहुविसुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [सम्मत्ते] सम्यक्त्व युक्त [आयत्तगुण] आत्मगुणों की भावना से [पज्जत्ता] परिपूर्ण, [जहाखादं] यथा-ख्यात है ।

बोधपाहुड का संकोच

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं
भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥60॥
षट्काय हितकर जिसतरह ये कहे हैं जिनदेव ने ।
बस उसतरह ही कहे हमने भव्यजन संबोधने ॥६०॥
अन्वयार्थ : जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ [सुद्धत्थं] शुद्ध है और ऐसा ही [रूवत्थं] रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप मोक्षमार्ग [जह] जैसा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनदेव ने [भणियं] कहा है, वैसा [छक्काय] छहकाय के जीवों का [हियंकरं] हित करनेवाला मार्ग [भव्वजण] भव्यजीवों के [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [उत्तं] कहा है ।

बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥61॥
जिनवरकथित शब्दत्वपरिणत समागत जो **अर्थ** है ।
बस उसे ही प्रस्तुत किया भद्रबाहु के इस शिष्य ने ॥६१॥
अन्वयार्थ : [सद्दवियारो] शब्द के विकार से [हूओ] उत्पन्न हुए [भासासुत्तेसु] भाषासूत्रों के द्वारा [जं जिणे कहियं] जैसा जिनदेव ने कहा, [सो तह कहियं] वैसा कहता हूँ जैसा [भद्दबाहुस्स] भद्रबाहू के [सीसेण] शिष्य से [णायं] जाना है ॥

भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥62॥
अंग बारह पूर्व चउदश के विपुल विस्तार विद ।
श्री भद्रबाहु गमकगुरु जयवंत हो इस जगत में ॥६२॥
अन्वयार्थ : [भद्दबाहू] भद्रबाहु आचार्य जिनको [बारसअंगवियाणं] बारह अंगों का विशेष ज्ञान है, [चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं] जिनको

चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार है, इसीलिए [सुयणाणि] श्रुतज्ञानी हैं, [गमयगुरू] 'गमक गुरु' है, [भयवओ] भगवान हैं, वे [जयउ] जयवंत होवें ।

मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

णमिऊण जिणवरिं दे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे
वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥1॥
सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र वंदित सिद्ध जिनवरदेव अर ।
सब संयतों को नमन कर इस भावपाहुड़ को कहूँ ॥१॥

अन्वयार्थ : [णरसुरभवणिंदवंदिए] मनुष्य, देव, पातालवासी देव -- इनके इन्द्रों के द्वारा वंदने योग्य [जिणवरिं दे] अरिहंत [सिद्धे] सिद्ध [अवसेसे संजदे] शेष संयतों को [सिरसा] मस्तक से [णमिऊण] नमस्कार करके [भावपाहुडम] भाव-पाहुड को [वोच्छामि] कहूँगा ।

दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ

भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा वेन्ति ॥2॥
बस भाव ही गुण-दोष के कारण कहे जिनदेव ने ।
भावलिंग ही परधान हैं द्रव्यलिंग न परमार्थ है ॥२॥

अन्वयार्थ : [भावो हि पढमलिंगं] भाव प्रथम लिंग है [ण दव्वलिंगं च] द्रव्य-लिंग नहीं [जाण परमत्थं] ऐसा निश्चय से जान, क्योंकि [गुणदोसाणं] गुण और दोषों का [कारणभूदो] कारणभूत [भावो] भाव ही है, इसप्रकार [जिणा] जिन भगवान [वेन्ति] कहते हैं ।

बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा

भावविसुद्धिणिमित्तं, बहिरंगस्स कीरए चाओ
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥3॥
अर भावशुद्धि के लिए बस परीग्रह का त्याग हो ।
रागादि अन्तर में रहें तो विफल समझो त्याग सब ॥३॥

अन्वयार्थ : [भावविसुद्धिणिमित्तं] भावों की विशुद्धि के लिए [बहिरंगस्स] बाह्य परिग्रह का [कीरए चाओ] त्याग किया जाता है, [अब्भंतरगंथजुत्तस्स] अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त के [बाहिरचाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग [विहलो] निष्फल है ।

करोडों भवों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ
जम्मंतराइ बहुसो लंवियहत्थो गलियवत्थो ॥4॥
वस्त्रादि सब परित्याग कोड़ाकोड़ि वर्षों तप करें ।
पर भाव बिन ना सिद्धि हो सत्यार्थ यह जिनवर कहें ॥४॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [कोडिकोडीओ] कोडाकोडि [जम्मंतराइ] जन्मान्तरों तक [बहुसो] बहुत प्रकार से [लंवियहत्थो] हाथ लम्बे लटकाकर, [गलियवत्थो] वस्त्रादिक का त्याग करके [तवं चरइ] तपश्चरण करे, [वि] तो भी [भावरहिओ] भाव-रहित को [ण सिज्झइ] सिद्धि नहीं होती है ।

इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥5॥

परिणामशुद्धि के बिना यदि परीग्रह सब छोड़ दें ।
तब भी अरे निज आत्महित का लाभ कुछ होगा नहीं ॥५॥

अन्वयार्थ : [जई] यदि [परिणामम्मि] परिणाम [असुद्धे] अशुद्ध होते हुए [बाहिरे] बाह्य [गंथे मुञ्चेइ] परिग्रह [च] आदि को छोड़े तो [बाहिरगंथच्चाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग उस [भावविहूणस्स] भावरहित को [किं कुणइ] क्या करे ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है ।

भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥6॥
प्रथम जानो भाव को तु भाव बिन द्रवलिंग से ।
तो लाभ कुछ होता नहीं पथ प्राप्त हो पुरुषार्थ से ॥६॥

अन्वयार्थ : [जाणहि भावं पढमं] प्रथम भाव को जान, [किं ते लिंगेण भावरहिएण] भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है ? [पंथिय सिवपुरिपंथं] शिवपुरी का पंथ [जिणउवइट्ठं पयत्तेण] जिनभगवंतो ने प्रयत्न-साध्य कहा है ।

भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारें
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ॥7॥
भाव बिन द्रवलिंग अगणित धरे काल अनादि से ।
पर आजतक हे आत्मन् ! सुख रंच भी पाया नहीं ॥७॥

अन्वयार्थ : [सपुरिस] हे सत्पुरुष ! [अणाइकालं] अनादिकाल से लगाकर इस [अणंतसंसारें] अनन्त संसार में तूने [भावरहिएण] भाव-रहित [बाहिरणिग्गंथरूवाइं] बाह्य में निर्ग्रन्थ रूप [बहुसो] बहुत बार [गहिउज्झियाइं] ग्रहण किये और छोड़े ।

भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए
पत्तो सि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥8॥
भीषण नरक तिर्यंच नर अर देवगति में भ्रमण कर ।
पाये अनन्ते दु:ख अब भावो जिनेश्वर भावना ॥८॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [भीसणणरयगईए] भीषण (भयंकर) नरकगति तथा [तिरियगईए] तिर्यंचगति में और [कुदेवमणुगइए] कुदेव, कुमनुष्यगति में [तिव्वदुक्खं] तीव्र दुःख [पत्तो सि] पाये हैं, अतः अब तू [जिणभावणा] जिनभावना (शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना) [भावहि] भा ।

नरकगति के दुःख

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं
भुताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहियं ॥9॥
इन सात नरकों में सतत चिरकाल तक हे आत्मन् ।
दारुण भयंकर अर असह्य महान दु:ख तूने सहे ॥९॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [सत्तसु] सात [णरयावासे] नरकभूमियों के नरक-आवास बिलों में [दारुणभीमाइं] दारुण (तीव्र) तथा भयानक और [असहणीयाइं] असहनीय [दुःक्खाइं] दुःखों को [सुइरकालं] बहुत दीर्घ काल तक [णिरंतरं] निरन्तर ही [भुताइं] भोगे और [सहियं] सहे ।

मनुष्यगति के दुःख

खणणुत्तावणवालण, वेयणविच्छेयणाणिरोहं च
पत्तोसि भावरहिओ, तिरियगईए चिरं कालं ॥10॥
तिर्यंचगति में खनन उत्तापन जलन अर छेदना ।
रोकना वध और बंधन आदि दुख तूने सहे ॥१०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [तिरियगईए] तिर्यंचगति में [खणणुत्तावणवालण] खनन, उत्तापन, ज्वलन, [वेयणविच्छेयणाणिरोहं] वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन [च] इत्यादि दुःख (सम्यग्दर्शन आदि) [भावरहिओ] भावरहित होकर [चिरं कालं] बहुत काल तक [पत्तोसि] प्राप्त किये ।

तिर्यंचगति के दुःख

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥11॥
मानसिक देहिक सहज एवं अचानक आ पड़े ।
ये चतुर्विध दुख मनुजगति में आत्मन् तूने सहे ॥११॥

अन्वयार्थ : [मणुयजम्मे] मनुष्य-जन्म में [अणंतयं कालं] अनन्तकाल तक [आगंतुक] अकस्मात् (वज्रपातादिक का आ-गिरना), [माणसियं] मानसिक (विषयों की वांछा का होना और तदनुसार न मिलना), [सहजं] सहज (माता, पितादि द्वारा सहज से ही उत्पन्न हुआ तथा राग-द्वेषादिक से वस्तु के इष्ट-अनिष्ट मानने के दुःख का होना), [सारीरियं] शारीरिक (व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदि) से हुए [दुक्खाइं] दुःख ये [चत्तारि] चार प्रकार के और चकार से इनको आदि लेकर अनेक प्रकारके दुःख [पत्तो सि] पाये ।

देवगति के दुःख

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं
संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥12॥
हे महायश सुरलोक में परसंपदा लखकर जला ।
देवांगना के विरह में विरहाग्नि में जलता रहा ॥१२॥

अन्वयार्थ : [महाजस] हे महायश ! तूने [सुहभावणारहिओ] शुभभावना से रहित होकर [सुरणिलयेसु] देवलोक में [सुरच्छरविओयकाले] सुराप्सरा अर्थात् प्यारे देव [य] तथा प्यारी अप्सरा के वियोग-काल में उसके वियोग सम्बन्धी दुःख तथा [माणसं] मानसिक [तिव्वं] तीव्र [दुःखं] दुःखों को [संपत्तो सि] पाये हैं ।

अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥13॥
पंचविध कांदर्पि आदि भावना भा अशुभतम ।
मुनि द्रव्यलिंगीदेव हों किल्विषिक आदिक अशुभतम ॥१३॥

अन्वयार्थ : तू [दव्वलिंगी] द्रव्यलिंगी मुनि होकर [कंदप्पमाइयाओ] कान्दर्पी [पंच वि य] आदि पाँच [असुहादिभावणाई] अशुभ भावना [भाऊण] भाकर [पहीणदेवो] नीच देव होकर [दिवे] स्वर्ग में [जाओ] उत्पन्न हुआ ।

पार्श्वस्थ भावना से दुःख

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ

भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥14॥
पार्श्वस्थ आदि कुभावनायें भवदु:खों की बीज जो ।
भाकर उन्हें दुख विविध पाये विविध बार अनादि से ॥१४॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पार्श्वस्थ भावना से अनादिकाल से लेकर अनन्त-बार भाकर दुःख को प्राप्त हुआ । किससे दुःख पाया ? कुभावना अर्थात् खोटी भावना, उसका भाव वे ही हुए दुःख के बीज, उनसे दुःख पाया ।

देव होकर मानसिक दुःख पाये

देवाण गुण विहूई इड्ढी माहप्प बहुविहं दट्ठुं
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥15॥
निज हीनता अर विभूति गुण-ऋद्धि महिमा अन्य की ।
लख मानसिक संताप हो है यह अवस्था देव की ॥१५॥
अन्वयार्थ : स्वर्ग में हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देव के अणिमादि गुण की विभूति देखे तथा देवांगना आदि का बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदिका माहात्म्य देखे तब मन में इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्य-रहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूति माहात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करने से मानसिक दुःख होता है ।

अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो
होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥16॥
चतुर्विध विकथा कथा आसक्त अर मदमत्त हो ।
यह आतमा बहुबार हीन कुदेवपन को प्राप्त हो ॥१६॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होकर, मद से मत्त और जिसके अशुभ भावना का ही प्रकट प्रयोजन है इसप्रकार अनेकबार कुदेवपने को प्राप्त हुआ ।

मनुष्य-तिर्यंच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख

असुईबीहत्थेहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि
वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥17॥
फिर अशुचितम वीभत्स जननी गर्भ में चिरकाल तक ।
दुख सहे तूने आजतक अज्ञानवश हे मुनिप्रवर ॥१७॥
अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! तू कुदेवयोनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की बस्ती में बहुत काल रहा । कैसी हैं वह बस्ती ? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, बीभत्स (घिनावनी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मल की अधिकता है ।

अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥18॥
अरे तू नरलोक में अगणित जनम धर-धर जिया ।
हो उदधि जल से भी अधिक जो दूध जननी का पिया ॥१८॥
अन्वयार्थ : हे महायश ! उस पूर्वोक्त गर्भवास में अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध तूने समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक पिया है ।

मरण द्वारा दुखी हुआ

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥19॥
तेरे मरण से दुखित जननी नयन से जो जल बहा ।
वह उदधिजल से भी अधिक यह वचन जिनवर ने कहा ॥१९॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने माता के गर्भ में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के रुदन के नयनों का नीर एकत्र करें तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे ।

अनन्त बार संसार में जन्म लिया

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी
पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥20॥
ऐसे अनन्ते भव धरे नरदेह के नख-केश सब ।
यदि करे कोई इकट्ठे तो ढेर होवे मेरु सम ॥२०॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! इस अनन्त संसारसागर में तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि देव पुंज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे ।

जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥21॥
परवश हुआ यह रह रहा चिरकाल से आकाश में ।
थल अनल जल तरु अनिल उपवन गहन वन गिरि गुफा में ॥२१॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जल में, थल अर्थात् भूमि में, शिखि अर्थात् अग्नि में, पवन में, अम्बर अर्थात् आकाश में, गिरि अर्थात् पवन में, सरित् अर्थात् नदीमें, दरी अर्थात् पवन की गुफा में, तरु अर्थात् वृक्षों में, वनों में और अधिक क्या कहें सब ही स्थानों में, तीन लोक में अनात्मवश अर्थात् पराधीन होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया ।

लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवित्तियाइं सव्वाइं
पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुञ्जंतो ॥22॥
पुद्गल सभी भक्षण किये उपलब्ध हैं जो लोक में ।
बहु बार भक्षण किये पर तृप्ति मिली न रंच भी ॥२२॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उनही को पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ ।

समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीड़िएण तुमे
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥23॥
त्रैलोक्य में उपलब्ध जल सब तृषित हो तूने पिया ।
पर प्यास फिर भी ना बुझी अब आत्मचिंतन में लगो ॥२३॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक में तृष्णा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तो भी तृषा का व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसार का मथन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रय का चिंन्तन कर ।

अनेक बार शरीर ग्रहण किया

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥24॥
जिस देह में तू रम रहा ऐसी अनन्ती देह तो ।
मूरख अनेकों बार तूने प्राप्त करके छोड़ दीं ॥२४॥
अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! हे धीर ! तूने इस अनन्त भवसागर में कलेवर अर्थात् शरीर अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है ।

आयुकर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥25॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥26॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त ॥27॥
शस्त्र श्वासनिरोध एवं रक्तक्षय संक्लेश से ।
अर जहर से भय वेदना से आयुक्षय हो मरण हो ॥२५॥
अनिल जल से शीत से पर्वतपतन से वृक्ष से ।
परधनहरण परगमन से कुमरण अनेक प्रकार हो ॥२६॥
हे मित्र ! इस विधि नरगति में और गति तिर्यंच में ।
बहुविध अनंते दु:ख भोगे भयंकर अपमृत्यु के ॥२७॥
अन्वयार्थ : विषभक्षण से, वेदना की पीडा़ के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है ।
हिम **अर्थ**ात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर पड़ने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे, और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से -- इसप्रकार अनेक-प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है ।
इसलिये कहते हैं कि हे मित्र ! इसप्रकार तिर्यंच, मनुष्य जन्म में बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु **अर्थ**ात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ ।

निगोद के दुःख

छत्तीस तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि
अतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि ॥28॥
इस जीव ने नीगोद में अन्तरमुहूरत काल में ।
छयासठ सहस अर तीन सौ छत्तीस भव धारण किये ॥२८॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् तू निगोद के वासमें एक अंतर्मुहूर्त्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ ।

क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त्त के जन्म-मरण

वियलिंदए असीदी सट्ठ चालीसमेव जाणेह
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभावंतोमुहुत्तस्स ॥29॥
विकलत्रयों के असी एवं साठ अर चालीस भव ।
चौबीस भव पंचेन्द्रियों अन्तरमुहूरत छुद्रभव ॥२९॥

अन्वयार्थ : इस अन्तर्मुहूर्त्त के भवों में दो इन्द्रिय के क्षुद्र-भव अस्सी, तेइन्द्रिय के साठ, चौइन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रिय के चौबीस, इसप्रकार हे आत्मन् ! तू क्षुद्र-भव जान ।

इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह ॥30॥
रतन त्रय के बिना होता रहा है यह परिणमन ।
तुम रतन त्रय धारण करो बस यही है जिनवर कथन ॥३०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को नहीं पाया, इसलिये इस दीर्घकाल से -- अनादि संसार में पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया, इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है ।

रत्नत्रय इसप्रकार है

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति ॥31॥
निज आतमा को जानना सद्ज्ञान रमना चरण है ।
निज आतमारत जीव सम्यग्दृष्टि जिनवर कथन है ॥३१॥

अन्वयार्थ : जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थरूप का अनुभव कर तद्रूप होकर श्रद्धान करे वह प्रगट सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है, उस आत्मा में आचरण करके राग-द्वेष-रूप न परिणमना सम्यक्चारित्र है । इसप्रकार यह निश्चय-रत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है ।

सुमरण का उपदेश

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥32॥
तूने अनन्ते जनम में कुमरण किये हे आत्मन् ।
अब तो समाधिमरण की भा भावना भवनाशनी ॥३२॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! इस संसार में अनेक जन्मान्तरों में अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं वैसे तू मरा । अब तू जिस मरण का नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरण की भावना कर ।

क्षेत्र-परावर्तन

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोपमाणिओ सव्वो ॥33॥
धरकर दिगम्बर वेष बारम्बार इस त्रैलोक में ।
स्थान कोई शेष ना जन्मा-मरा ना हो जहाँ ॥३३॥

अन्वयार्थ : यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीन-लोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणु-परिणाम एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो ।

काल-परावर्तन

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥34॥
रे भावलिंग बिना जगत में अरे काल अनंत से ।
हा ! जन्म और जरा-मरण के दु:ख भोगे जीव ने ॥३४॥
अन्वयार्थ : यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा भाव-लिंग न होने से अनंत-काल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण से पीड़ित दुःख को ही प्राप्त हुआ ।

द्रव्य-परावर्तन

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥35॥
परिणाम पुद्गल आयु एवं समय काल प्रदेश में ।
तनरूप पुद्गल ग्रहे-त्यागे जीव ने इस लोक में ॥३५॥
अन्वयार्थ : इस जीव ने इस अनन्त अपार भव-समुद्र में लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उन प्रति समय समय और पर्याय के आयुप्रमाण काल और अपने जैसा योगकषाय के परिणमन-स्वरूप परिणाम और जैसा गति-जाति आदि नाम-कर्म के उदय से हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उनमें पुद्गल के परमाणुरूप स्कन्ध, उनको बहुतबार / अनन्तबार ग्रहण किये और छोड़े ।

क्षेत्र परावर्तन

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ जण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥36॥
बिन आठ मध्यप्रदेश राजू तीन सौ चालीस त्रय ।
परिमाण के इस लोक में जन्मा-मरा न हो जहाँ ॥३६॥
अन्वयार्थ : यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू परिमाण क्षेत्र है, उसको बीच मेरु के नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा-मरा हो ।

शरीर में रोग का वर्णन

एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥37॥
एक-एक अंगुलि में जहाँ पर छयानवें हों व्याधियाँ ।
तब पूर्ण तन में तुम बताओ होंगी कितनी व्याधियाँ ॥३७॥
अन्वयार्थ : इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छ्यानवे-छ्यानवे रोग होते हैं, तब कहो, अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें ।

उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥38॥
पूर्वभव में सहे परवश रोग विविध प्रकार के ।

अर सहोगे बहु भाँति अब इससे अधिक हम क्या कहें?॥३८॥

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! तूने पूर्वोक्त रोगोंको पूर्वभवों में तो परवश सहे, इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहने से क्या ?

अपवित्र गर्भवास में भी रहा

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥39॥
कृमिकलित मज्जा-मांस-मज्जित मलिन महिला उदर में ।
नवमास तक कई बार आतम तू रहा है आजतक ॥३९॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने इस प्रकार के मलिन अपवित्र उदर में नव मास तथा दश मास प्राप्त कर रहा । कैसा है उदर ? जिसमें पित्त और आंतों से वेष्टित, मूत्र का स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर बिना मेद फूल जावे, कालिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मल में मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवों के समूह ये सब पाये जाते हैं -- इसप्रकार स्त्री के उदर में बहुत बार रहा ।

फिर इसी को कहते हैं

दियसंगट्ठियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते
छद्दिखरिसाण मज्झे जढरे वसिओ सि जणणीए ॥40॥
तू रहा जननी उदर में जो जननि ने खाया-पिया ।
उच्छिष्ट उस आहार को ही तू वहाँ खाता रहा ॥४०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माता के और पिता के भोग के अन्त, छर्द्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिरसे मिला हुआ अपक्व मल) के बीचमें रहा, कैसा रहा ? माताके दाँतों से चबाया हुआ और उन दाँतों के लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन माता के खाने के पीछे जो उदर में गया उसके रसरूपी आहार से रहा ।

बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं
असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥41॥
शिशुकाल में अज्ञान से मल-मूत्र में सोता रहा ।
अब अधिक क्या बोलें अरे मल-मूत्र ही खाता रहा ॥४१॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू बचपन के समय में अज्ञान अवस्था में अशुचि (अपवित्र) स्थानो में अशुचि के बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपन को पाकर इसप्रकार चेष्टायें की ।

देह के स्वरूप का विचार करो

मंसट्ठिसुक्कसोमियपित्ततसवत्तकुणिमदुग्गंधं
खरिसवसापूय खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥42॥
यह देह तो बस हड्डियों श्रोणित बसा अर माँस का ।
है पिण्ड इसमें तो सदा मल-मूत्र का आवास है ॥४२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू देहरूप घट को इसप्रकार विचार, कैसा है देहघट ? मांस, हाड़, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और अंत्र (अँतड़ियाँ) आदि द्वारा तत्काल मृतक की तरह दुर्गंध है तथा खरिस (रुधिरसे मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध, इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घट का विचार करो ।

अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥43॥
परिवारमुक्ती मुक्ति ना मुक्ती वही जो भाव से ।
यह जानकर हे आत्मन् ! तू छोड़ अन्तरवासना ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिये हे धीर मुनि ! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़ ।

भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर !
अत्ताववेण जादो बाहुबली कित्तियं* कालं ॥44॥
बाहुबली ने मान बस घरवार ही सब छोड़कर ।
तप तपा बारह मास तक ना प्राप्ति केवलज्ञान की ॥४४॥

अन्वयार्थ : देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेव का पुत्र देहादिक परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया, तो भी मानकषाय से कलुष परिणामरूप होकर कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई ।

मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥45॥
तज भोजनादि प्रवृत्तियाँ मुनिपिंगला रे भावविन ।
अरे मात्र निदान से पाया नहीं श्रमणत्व को ॥४५॥

अन्वयार्थ : मधुपिंगलनाम का मुनि कैसा हुआ ? देह आहारादि में व्यापार छोड़कर भी निदान-मात्र से भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ, उसको भव्य-जीवों से नमने योग्य मुनि, तू देख ।

भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण
सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥46॥
इस ही तरह मुनि वशिष्ठ भी इस लोक में थानक नहीं ।
रे एक मात्र निदान से घूमा नहीं हो वह जहाँ ॥४६॥

अन्वयार्थ : अन्य और एक वशिष्ठ नामक मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ, इसलिये लोक में ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्म-मरणसहित भ्रमण को प्राप्त नहीं हुआ ।

भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीव ॥47॥
चौरासिलख योनीविषें है नहीं कोई थल जहाँ ।
रे भावबिन द्रवलिंगधर घूमा नहीं हो तू जहाँ ॥४७॥

अन्वयार्थ : इस संसार में चौरासीलाख योनि, उनके निवास में ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्य-लिंगी मुनि होकर भी भाव-

रहित होता हुआ भ्रमण न किया हो ।

द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण

तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥48॥

भाव से ही लिंगी हो द्रवलिंग से लिंगी नहीं ।

लिंगभाव ही धारण करो द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥४८॥

अन्वयार्थ : लिंगी होता है सो भाव-लिंग ही से होता है, द्रव्य-लिंग से लिंगी नहीं होता है यह प्रकट है; इसलिये भाव-लिंग ही धारण करना, द्रव्य-लिंग से क्या सिद्ध होता है ?

द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण

जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥49॥

जिनलिंग धरकर बाहुमुनि निज अंतरंग कषाय से ।

दण्डकनगर को भस्मकर रौरव नरक में जा पड़े ॥४९॥

अन्वयार्थ : देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिन-लिंग सहित था तो भी अभ्यन्तर के दोष से समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध किया और सप्तम पृथ्वी के रौरव नामक बिल में गिरा ।

दीपायन मुनि का उदाहरण

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो

दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥50॥

इस ही तरह द्रवलिंगी द्वीपायन मुनी भी भ्रष्ट हो ।

दुर्गति गमनकर दुख सहे अर अनंत संसारी हुए ॥५०॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नामका द्रव्य-श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त-संसारी हुआ है ।

भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढिओ विसुद्धमई

णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥51॥

शुद्धबुद्धी भावलिंगी अंगनाओं से घिरे ।

होकर भी शिवकुमार मुनि संसारसागर तिर गये ॥५१॥

अन्वयार्थ : शिवकुमार नामक भाव-श्रमण स्त्रीजनों से वेष्टित होते हुए भी विशुद्ध-बुद्धि का धारक धीर संसार को त्यागनेवाला हुआ ।

भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयलसुयणाणं

पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥52॥

अभविसेन ने केवलि प्ररूपित अंग ग्यारह भी पढ़े ।

पर भावलिंग बिना अरे संसारसागर न तिरे ॥५२॥

अन्वयार्थ : अभव्यसेन नाम के द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंग को पूर्ण श्रुतज्ञान भी कहते

हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुए को अर्थअपेक्षा पूर्ण श्रुतज्ञान भी हो जाता है । अभव्यसेन इतना पढ़ा, तो भी भाव-श्रमणपने को प्राप्त न हुआ ।

शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धी -- उदाहरण शिवभूति मुनि

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य
णामेव य सिवभूई केवलीणाणी फुडं जाओ ॥53॥
कहाँ तक बतावें अरे महिमा तुम्हें भावविशुद्धि की ।
तुषमास पद को घोखते शिवभूति केवलि हो गये ॥५३॥
अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुष-माष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है ।

इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥54॥
भाव से हो नग्न तन से नग्नता किस काम की ।
भाव एवं द्रव्य से हो नाश कर्मकलंक का ॥५४॥
अन्वयार्थ : भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्न लिंग से क्या कार्य होता है ? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भाव-सहित द्रव्य-लिंग से कर्म-प्रकृति के समूह का नाश होता है ।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं
इय जाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥55॥
भाव विरहित नग्नता कुछ कार्यकारी है नहीं ।
यह जानकर भाओ निरन्तर आतम की भावना ॥५५॥
अन्वयार्थ : भावरहित नग्नत्व अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है । ऐसा जिन भगवान ने कहा है । इसप्रकार जानकर हे धीर ! धैर्यवान मुने ! निरन्तर नित्य आत्मा की ही भावना कर ।

भावलिंग का निरूपण करते हैं

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥56॥
देहादि के संग से रहित अर रहित मान कषाय से ।
अर आतमारत सदा ही जो भावलिंगी श्रमण वह ॥५६॥
अन्वयार्थ : भावलिंगी साधु ऐसा होता है -- देहादिक परिग्रहों से रहित होता है तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है, वही आत्मा भाव-लिंगी है ।

इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं बोसरे ॥57॥
निज आत्म का अवलम्ब ले मैं और सबको छोड़ दूँ ।
अर छोड़ ममताभाव को निर्मत्व को धारण करूँ ॥५७॥

अन्वयार्थ : भाव-लिंगी मुनि के इसप्रकार के भाव होते हैं -- मैं पर-द्रव्य और पर-भावों से ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निज-भाव ममत्व-रहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूँ । अब मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूँ ।

ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥58॥
निज ज्ञान में है आतमा दर्शन चरण में आतमा ।
और संवर योग प्रत्याख्यान में है आतमा ॥५८॥

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि -- मेरे ज्ञानभाव प्रकट है, उसमें आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शन में भी आत्मा ही है । ज्ञान में स्थिर रहना चारित्र है, इसमें भी आत्मा ही है । प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्ध-निश्चयनय के विषयभूत स्वद्रव्य के आलंबनके बल से) आगामी पर-द्रव्य का सम्बन्ध छोड़ना है, इस भाव में भी आत्मा ही है, संवर ज्ञान-रूप रहना और परद्रव्य के भाव-रूप न परिणमना है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है, और योग का अर्थ एकाग्र-चिंता-रूप समाधि-ध्यान है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है ।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥59॥
अरे मेरा एक शाश्वत आतमा दृगज्ञानमय ।
अवशेष जो हैं भाव वे संयोगलक्षण जानने ॥५९॥

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारता है कि -- ज्ञान, दर्शन लक्षणरूप और शाश्वत अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है । शेष भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोग-स्वरूप हैं, पर-द्रव्य हैं ।

जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥60॥
चतुर्गति से मुक्त हो यदि शाश्वत सुख चाहते ।
तो सदा निर्मलभाव से ध्याओ श्रमण शुद्धातमा ॥६०॥

अन्वयार्थ : हे मुनिजनो ! यदि चार गतिरूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत सुख-रूप मोक्ष तुम चाहो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को भावो ।

जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥61॥
जो जीव जीवस्वभाव को सुधभाव से संयुक्त हो ।
भावे सदा व जीव ही पावे अमर निर्वाण को ॥६१॥

अन्वयार्थ : जो भव्य-पुरुष जीव को भाता हुआ, भले भाव से संयुक्त हुआ जीव के स्वभाव को जानकर भावे, वह जरा-मरण का विनाश कर प्रगट निर्वाण को प्राप्त करता है ।

जीव का स्वरूप

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥62॥
चेतना से सहित ज्ञानस्वभावमय यह आतमा ।
कर्मक्षय का हेतु यह है यह कहें परमातमा ॥६२॥
अन्वयार्थ : जिन सर्वज्ञदेव ने जीव का स्वरूप इसप्रकार कहा है -- जीव है वह चेतना-सहित है और ज्ञान-स्वभाव है, इसप्रकार जीव की भावना करना, जो कर्म के क्षय के निमित्त जानना चाहिये ।

जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥63॥
जो जीव के सद्भाव को स्वीकारते वे जीव ही ।
निर्देह निर्वच और निर्मल सिद्धपद को पावते ॥६३॥
अन्वयार्थ : जिन भव्यजीवों के जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्य-जीव देह से भिन्न तथा वचन-गोचरातीत सिद्ध होते हैं ।

वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठिसंठाणं ॥64॥
चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥६४॥
अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू जीव का स्वरूप इसप्रकार जान -- कैसा है ? अरस अर्थात् पांच प्रकार के खट्टे, मीठे, कडुवे, कषाय के और खारे रस से रहित है । काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार अरूप अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है । दो प्रकार की गंध से रहित है । अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के गोचर-व्यक्त नहीं है । चेतना गुणवाला है । अशब्द अर्थात् शब्द-रहित है । अलिंगग्रहण अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता है । अनिर्दिष्ट-संस्थान अर्थात् चौकोर, गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो ।

जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं
भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥65॥
अज्ञान नाशक पंचविध जो ज्ञान उसकी भावना ।
भा भाव से हे आत्मन् ! तो स्वर्ग-शिवसुख प्राप्त हो ॥६५॥
अन्वयार्थ : हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच पकार से भा, कैसा है यह ज्ञान ? अज्ञान का नाश करनेवाला है, कैसा होकर भा ? भावना से भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा, इससे तू दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष) का पात्र होगा ।

पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥66॥
श्रमण श्रावकपने का है मूल कारण भाव ही ।
क्योंकि पठन अर श्रवण से भी कुछ नहीं हो भावबिन ॥६६॥

अन्वयार्थ : भावरहित पढ़ने-सुनने से क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिये श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है ।

यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया
पारिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥67॥
द्रव्य से तो नग्न सब नर नारकी तिर्यंच हैं ।
पर भावशुद्धि के बिना श्रमणत्व को पाते नहीं ॥६७॥
अन्वयार्थ : द्रव्यसे बाह्य में तो सब प्राणी नग्न होते हैं । नारकी जीव और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं । सकलसंघात कहने से अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिये भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए ।

केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥68॥
हों नग्न पर दुख सहें अर संसारसागर में रुलें ।
जिन भावना बिन नग्नतन भी बोधि को पाते नहीं ॥६८॥
अन्वयार्थ : नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार-समुद्र में भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वानुभव को नहीं पाता है, कैसा है वह नग्न -- जो जिनभावना से रहित है ।

भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है

अयसाण भावयेण य किं ते णग्गेम पावमलिणेण
पेसुण्णाहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥69॥
मान मत्सर हास्य ईर्ष्या पापमय परिणाम हों ।
तो हे श्रमण तननगन होने से तुझे क्या साध्य है ॥६९॥
अन्वयार्थ : हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है ? कैसा है -- पैशून्य अर्थात् दूसरे का दोष कहने का स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरे की हँसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबरवाले से ईर्ष्या रखकर दूसरे को नीचा करने की वृत्ति, माया अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसीलिये पाप से मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है ।

भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियइ ॥70॥
हे आत्मन् जिनलिंगधर तू भावशुद्धी पूर्वक ।
भावशुद्धि के बिना जिनलिंग भी हो निरर्थक ॥७०॥
अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भाव-दोषों से अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग प्रगट कर, भाव-शुद्धि के बिना द्रव्य-लिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भाव-मलिन जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है ।

भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो

णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण ॥71॥

सद्धर्म का न वास जह तह दोष का आवास है ।

है निरर्थक निष्फल सभी सद्ज्ञान बिन हे नटश्रमण ॥७१॥

अन्वयार्थ : धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षण-स्वरूप में जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षु के फूल के समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं । इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नट-श्रमण अर्थात् नाचनेवाले भाँड़ के स्वांग के समान है ।

द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा

ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥72॥

जिनभावना से रहित रागी संग से संयुक्त जो ।

निर्ग्रन्थ हों पर बोधि और समाधि को पाते नहीं ॥७२॥

अन्वयार्थ : जो मुनि राग अर्थात् अभ्यंतर पर-द्रव्य से प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त हैं और जिनभावना अर्थात् शुद्ध-स्वरूप की भावना से रहित हैं वे द्रव्य-निर्ग्रंथ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में जो समाधि अर्थात् धर्म-शुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप मोक्ष-मार्ग को नहीं पाते हैं ।

पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥73॥

मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से ।

आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से ॥७३॥

अन्वयार्थ : पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर और भाव से अंतरंग नग्न हो, एकरूप शुद्धआत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य-लिंग जिन-आज्ञा से प्रकट करे, यह मार्ग है ।

शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो

कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥74॥

हो भाव से अपवर्ग एवं भाव से ही स्वर्ग हो ।

पर मलिनमन अर भाव विरहित श्रमण तो तिर्यंच हो ॥७४॥

अन्वयार्थ : भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, और भाव-रहित श्रमण पाप-स्वरूप है, तिर्यंचगति का स्थान है तथा कर्म-मल से मलिन चित्तवाला है ।

भाव के फल का माहात्म्य

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विऊला

चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥75॥

सुभाव से ही प्राप्त करते बोधि अर चक्रेश पद ।

नर अमर विद्याधर नमें जिनको सदा कर जोड़कर ॥७५॥

अन्वयार्थ : सुभाव अर्थात् भले भावसे, मंद-कषाय-रूप विशुद्धभाव से, चक्रवर्ती आदि राजाओं की विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है । कैसी है -- खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इनकी अंजुलिमाला (हाथोंकी अंजुलि) की पंक्ति से संस्तुत (नमस्कारपूर्वक

स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) पाता है ।

भावों के भेद

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं
असुहं च अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिं देहिं ॥76॥
शुभ अशुभ एवं शुद्ध इसविधि भाव तीन प्रकार के ।
रौद्रार्त तो हैं अशुभ किन्तु शुभ धरममय ध्यान है ॥७६॥

अन्वयार्थ : जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है -- 1 शुभ, 2 अशुभ और 3 शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म-ध्यान शुभ है ।

भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥77॥
निज आत्मा का आत्मा में रमण शुद्धस्वभाव है ।
जो श्रेष्ठ है वह आचरो जिनदेव का आदेश यह ॥७७॥

अन्वयार्थ : शुद्ध है वह अपना शुद्ध-स्वभाव अपने ही में है इसप्रकार जिनवर देव ने कहा है, वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो ।

जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो
पावइ तिहुवणसारं बोहि जिणसासणे जीवो ॥78॥
गल गये जिसके मान मिथ्या मोह वह समचित्त ही ।
त्रिभुवन में सार ऐसे रत्नत्रय को प्राप्त हो ॥७८॥

अन्वयार्थ : यह जीव प्रगलित-मान-कषायः अर्थात् जिसका मानकषाय प्रकर्षता से गल गया है, किसी पर-द्रव्य से अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्व का उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिये समचित्त है, पर-द्रव्य में ममकार रूप मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है ।

ऐसा मुनि ही तीर्थंकर-प्रकृति बाँधता है

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण
तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥79॥
जो श्रमण विषयों से विरत वे सोलहकारणभावना ।
भा तीर्थंकर नामक प्रकृति को बाँधते अतिशीघ्र ही ॥७९॥

अन्वयार्थ : जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयोंसे विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है वह सोलहकारण भावना को भाकर तीर्थंकर नाम प्रकृति को थोड़े ही समय में बाँध लेता है ।

भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण
धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥80॥
तेरह क्रिया तप वार विध भा विविध मनवचकाय से ।

हे मुनिप्रवर ! मन मत्त गज वश करो अंकुश ज्ञान से ॥८०॥

अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! मुनियों में श्रेष्ठ ! तू बारह प्रकार के तपका आचरण कर और तेरह प्रकार की क्रिया मन-वचन-काया से भा और ज्ञानरूप अंकुश से मनरूप मतवाले हाथी को अपने वश में रख ।

द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू
भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥81॥
वस्त्र विरहित क्षिति शयन भिक्षा असन संयम सहित ।
जिन लिंग निर्मल भाव भावित भावना परिशुद्ध है ॥८१॥

अन्वयार्थ : निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है -- जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावित-पूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप पर-द्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी हुआ, उसे बारंबार भावना से अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्य-मल-रहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मल-रहित जिनलिंग है ।

जिनधर्म की महिमा

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥82॥
ज्यों श्रेष्ठ चंदन वृक्ष में हीरा रतन में श्रेष्ठ है ।
त्यों धर्म में भवभाविनाशक एक ही जिनधर्म है ॥८२॥

अन्वयार्थ : जैसे रत्नोमें प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम व्रज (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मथन करनेवाला) जिन-धर्म है, इससे मोक्ष होता है ।

धर्म का स्वरूप

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥83॥
व्रत सहित पूजा आदि सब जिनधर्म में सत्कर्म हैं ।
दृगमोह-क्षोभ विहीन निज परिणाम आतमधर्म है ॥८३॥

अन्वयार्थ : जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि -- पूजा आदिक में और व्रत-सहित होना है वह तो पुण्य ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह धर्म है ।

पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥84॥
अर पुण्य भी है धर्म - ऐसा जान जो श्रद्धा करें ।
वे भोग की प्राप्ति करें पर कर्म क्षय न कर सकें ॥८४॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष पुण्य को धर्म मानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीत करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके पुण्य भोग का निमित्त है । इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षयका निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिये ।

आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो

संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥85॥
रागादि विरहित आतमा रत आतमा ही धर्म है ।
भव तरण-तारण धर्म यह जिनवर कथन का मर्म है ॥८५॥
अन्वयार्थ : यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा ही में रत हो जाय तो ऐसे धर्म को जिनेश्वर-देव ने संसार-समुद्र में तिरने का कारण कहा है ।

आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥86॥
जो नहीं चाहे आतमा अर पुण्य ही करता रहे ।
वह मुक्ति को पाता नहीं संसार में रुलता रहे ॥८६॥
अन्वयार्थ : अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकार के समस्त पुण्य को करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं पाता है किन्तु वह पुरुष संसार ही में भ्रमण करता है ।

आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥87॥
इसलिए पूरी शक्ति से निज आतमा को जानकर ।
श्रद्धा करो उसमें रमो नित मुक्तिपद पा जाओगे ॥८७॥
अन्वयार्थ : पहिले कहा था कि आत्माका धर्म तो मोक्ष है, उसी कारणसे कहते हैं कि -- हे भव्यजीवो ! तुम उस आत्मा को प्रयत्न-पूर्वक सब प्रकार के उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्मा का श्रद्धान करो, प्रतीत करो, आचरण करो । मन-वचन-काय से ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो ।

बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥88॥
सप्तम नरक में गया तन्दुल मत्स्य हिंसक भाव से ।
यह जानकर हे आत्मन् ! नित करो आतमभावना ॥८८॥
अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! तू देख, शालिशिक्थ (तन्दुल नामका सत्य) वह भी अशुद्ध-भाव-स्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसलिये तुझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्मा को जानने के लिए निरंतर जिनभावना कर ।

भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन

बाहिसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥89॥
आतमा की भावना बिन गिरि-गुफा आवास सब ।
अर ज्ञान अध्ययन आदि सब करनी निरर्थक जानिये ॥८९॥
अन्वयार्थ : जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्मा की भावना से रहित हैं और बाह्य आचरण से सन्तुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रह का त्याग है वह निरर्थक है । गिरि (पर्वत) दरी (पर्वतकी गुफा) सरित् (नदीके पास) कंदर (पर्वतके जलसे चीरा हुआ स्थान) इत्यादि स्थानों में आवास (रहना) निरर्थक है । ध्यान करना, आसन द्वारा मन को रोकना, अध्ययन (पढ़ना) -- ये सब निरर्थक हैं ।

भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो

भंजसु इन्दियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण

मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥90॥

इन लोकरंजक बाह्यव्रत से अरे कुछ होगा नहीं ।

इसलिए पूर्ण प्रयत्न से मन इन्द्रियों को वश करो ॥९०॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू इन्द्रियों की सेना है उसका भंजन कर, विषयों में मत रम, मनरूप बंदर को प्रयत्न-पूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोक को रंजन करनेवाला मत धारण करे ।

फिर उपदेश कहते हैं

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए

चेइयपवयणगुरुणं करेहि भंत्ते जिणाणाए ॥91॥

मिथ्यात्व अर नोकषायों को तजो शुद्ध स्वभाव से ।

देव प्रवचन गुरु की भक्ति करो आदेश यह ॥९१॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद -- ये नो कषायवर्ग तथा मिथ्यात्व इनको भाव-शुद्धि द्वारा छोड़ और जिनआज्ञा से चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर ।

फिर कहते हैं

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं

भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥92॥

तीर्थंकरों ने कहा गणधरदेव ने गूँथा जिसे ।

शुद्धभाव से भावो निरन्तर उस अतुल श्रुतज्ञान को ॥९२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू जिस श्रुतज्ञान को तीर्थंकर भगवान ने कहा और गणधर देवों ने गूंथा अर्थात् शास्त्र-रूप रचना की उसकी सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर । कैसा है वह श्रुतज्ञान ? अतुल है, इसके बराबर अन्य मत का कहा हुआ श्रुत-ज्ञान नहीं है ।

ऐसा करने से क्या होता है ?

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का

होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥93॥

श्रुतज्ञानजल के पान से ही शान्त हो भवदुखतृषा ।

त्रैलोक्यचूड़ामणी शिवपद प्राप्त हो आनन्दमय ॥९३॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जल को पीकर सिद्ध होते हैं । कैसे हैं सिद्ध ? निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषादाह शोष से रहित हैं, इस प्रकार सिद्ध होते हैं; ज्ञानरूप जल पीने का यह फल है । सिद्धशिवालय अर्थात् मुक्तिरूप महल में रहनेवाले हैं, लोक के शिखरपर जिनका वास है । इसीलिये कैसे हैं ? तीन भुवन के चूड़ामणि है, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवन में ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानंद अविनाशी सुख को वे भोगते हैं । इसप्रकार वे तीन भुवन के मुकुटमणि हैं ।

भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण

सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥94॥

जिनवरकथित बाईस परीषह सहो नित समचित्त हो ।

बचो संयमघात से हे मुनि ! नित अप्रमत्त हो ॥९४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू दस दस दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् अतिशयकर सहने योग्य को सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचन में कहे हैं उसी रीति से निःप्रमादी होकर संयम का घात दूरकर और अपनी काय से सदाकाल निरंतर सहन कर ।

परीषह जय की प्रेरणा

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण
तह साहू वि म भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥95॥
जल में रहे चिरकाल पर पत्थर कभी भिदता नहीं ।
त्यों परीषह उपसर्ग से साधु कभी भिदता नहीं ॥९५॥

अन्वयार्थ : जैसे पाषाण जल में बहुत काल तक रहने पर भी भेद को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग-परीषहों से नहीं भिदता है ।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि
भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥96॥
भावना द्वादश तथा पच्चीस व्रत की भावना ।
भावना बिन मात्र कोरे वेष से क्या लाभ है ॥९६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा हैं उनकी भावना कर और अपर अर्थात् अन्य पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना कही हैं उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्त्तव्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥97॥
है सर्वविरती तथापि तत्त्वार्थ की भा भावना ।
गुणथान जीवसमास की भी तू सदा भा भावना ॥९७॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू सब परिग्रहादिक से विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धि के लिये नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान इनके नाम लक्षण भेद इत्यादिकों की भावना कर ।

भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥98॥
भयंकर भव-वन विषैं भ्रमता रहा आशक्त हो ।
बस इसलिए नवकोटि से ब्रह्मचर्य को धारण करो ॥९८॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पहिले दस प्रकार का अब्रह्म है उसको छोड़कर नव प्रकार का ब्रह्मचर्य है उसको प्रगट कर, भावों में प्रत्यक्ष कर । यह उपदेश इसलिए दिया है कि तू मैथुनसंज्ञा जो कामसेवन की अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावों से इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा ।

भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण

भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥99॥
भाववाले साधु साधे चतुर्विध आराधना ।
पर भाव विरहित भटकते चिरकाल तक संसार में ॥९९॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! जो भाव सहित है सो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ऐसी आराधना के चतुष्क को पाता है, वह मुनियों में प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घसंसार में भ्रमण करता है ।

आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥100॥
तिर्यंच मनुज कुदेव होकर द्रव्यलिंगी दु:ख लहें ।
पर भावलिंगी सुखी हों आनन्दमय अपवर्ग में ॥१००॥
अन्वयार्थ : जो भावश्रमण हैं, भावमुनि हैं, वे जिनमें कल्याण की परंपरा है ऐसे सुखों को पाते हैं और जो द्रव्य-श्रमण हैं वे तिर्यंच मनुष्य कुदेव योनि में दुःखों को पाते हैं ।

अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण
पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥101॥
अशुद्धभावों से छियालिस दोष दूषित असन कर ।
तिर्यंचगति में दुख अनेकों बार भोगे विवश हो ॥१०१॥
अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अशुद्ध भावसे छियालीस दोषों से दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इस कारण से तिर्यंचगति में पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया ।

सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणडधी पभूत्तूण
पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥102॥
अतिगृद्धता अर दर्प से रे सचित्त भोजन पान कर ।
अति दु:ख पाये अनादि से इसका भी जरा विचार कर ॥१०२॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अतिगर्व (उद्धतपने) से सचित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार-पानी लेकर अनादिकाल से तीव्र दुःख को पाया, उसका चिन्तवन कर - विचार कर ।

कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं
असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणंतसंसारे ॥103॥
अर कंद मूल बीज फूल पत्र आदि सचित्त सब ।
सेवन किये मदमत्त होकर भ्रमें भव में आजतक ॥१०३॥
अन्वयार्थ : कंद-जमीकंद आदिक, बीज-चना आदि अन्नादिक, मूल-अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प-फूल, पत्र नागरवेल आदिक, इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तुथी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की । उससे हे जीव ! तूने अनंत-संसार में भ्रमण किया ।

विनय का वर्णन

विणयं पचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण
अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥104॥
विनय पंच प्रकार पालो मन वचन अर काय से ।

अविनयी को मुक्ति की प्राप्ति कभी होती नहीं ॥१०४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जिस कारणसे अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थंकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं, इसलिये हम उपदेश करते हैं कि -- हाथ जोड़ना, चरणों में गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पाँच प्रकार का विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना, ऐसे पाँच प्रकार के विनय को तू मन-वचन-काय तीनों योगों से पालन कर ।

वैयावृत्य का उपदेश

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि
तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥105॥
निजशक्ति के अनुसार प्रतिदिन भक्तिपूर्वक चाव से ।
हे महायश ! तुम करो वैयावृत्ति दशविध भाव से ॥१०५॥

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! जिनभक्ति में तत्पर होकर, भक्ति के रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्य को सदाकाल तू अपनी शक्तिके अनुसार कर । वैयावृत्य के दूसरे दुःख (कष्ट) आने पर उसकी सेवा-चाकरी करने को कहते हैं । इसके दस भेद हैं— 1 आचार्य, 2 उपाध्याय, 3 तपस्वी, 4 शैक्ष्य, 5 ग्लान, 6 गण, 7 कुल, 8 संघ, 9 साधु, 10 मनोज्ञ -- ये दस मुनि के हैं । इनका वैयावृत्य करते हैं इसलिये दस भेद कहे हैं ।

गर्हा का उपदेश

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं
तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥106॥
अरे मन वचन काय से यदि हो गया कुछ दोष तो ।
मान माया त्याग कर गुरु के समक्ष प्रगट करो ॥१०६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जो कुछ मन-वचन-काय के द्वारा अशुभ भावों से प्रतिज्ञा में दोष लगा हो उसको गुरु के पास अपना गौरव (महंतपनेका गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन-वचन-काय को सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्रकाशित कर ।

क्षमा का उपदेश

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥107॥
निष्ठुर कटुक दुर्जन वचन सत्पुरुष सहें स्वभाव से ।
सब कर्मनाशन हेतु तुम भी सहो निर्मम भाव से ॥१०७॥

अन्वयार्थ : सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जन के वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दयारहित और कटुक (सुनते ही कानों को कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट है उसको सहते हैं । वे किसलिये सहते हैं ? कर्मों का नाश होने के लिये सहते हैं । पहिले अशुभ-कर्म बाँधे थे उसके निमित्त से दुर्जन ने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम परिणाम से आप सहे तब अशुभ-कर्म उदय होय खिर गये । ऐसे कटुक-वचन सहने से कर्म का नाश होता है ।

क्षमा का फल

पावं खवइ असेस खमाए पडिमंडिओ य मुणपवरो
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥108॥
अर क्षमा मंडित मुनि प्रकट ही पाप सब खण्डित करें ।
सुरपति उरग-नरनाथ उनके चरण में वंदन करें ॥१०८॥

अन्वयार्थ : जो मुनिप्रवर (मुनियों में श्रेष्ठ, प्रधान) क्रोध से अभावरूप क्षमा से मंडित है वह मुनि समस्त पापों का क्षय करता है और विद्याधर-देव-मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होता है ।

क्षमा करना और क्रोध छोड़ना

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं

चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥109॥

यह जानकर हे क्षमागुणमुनि ! मन-वचन अर काय से ।

सबको क्षमा कर बुझा दो क्रोधादि क्षमास्वभाव से ॥१०९॥

अन्वयार्थ : हे क्षमागुण मुने ! (जिसके क्षमागुण हैं ऐसे मुनि का संबोधन है) इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुण को जान और सब जीवों पर मन-वचन-काय से क्षमा कर तथा बहुत काल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को क्षमारूप जल से सींच अर्थात् शमन कर ।

दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश

दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो

उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥110॥

असार है संसार सब यह जान उत्तम बोधि की ।

अविकार मन से भावना भा अरे दीक्षाकाल सम ॥११०॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू संसार को असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति के निमित्त अविकार अर्थात् अतिचार-रहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिक की भावना कर ।

भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो

बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥111॥

अंतरंग शुद्धिपूर्वक तू चतुर्विध द्रवलिंग धर ।

क्योंकि भाव बिना द्रवलिंग कार्यकारी है नहीं ॥१११॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू अभ्यंतरलिंग की शुद्धि अर्थात् शुद्धता को प्राप्त होकर चार प्रकार के बाह्यलिंग का सेवन कर, क्योंकि जो भाव-रहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्य-लिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है ।

चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण

आहारभयपरिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं

भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥112॥

आहार भय मैथुन परीग्रह चार संज्ञा धारकर ।

भ्रमा भववन में अनादिकाल से हो अन्य वश ॥११२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओं से मोहित होकर अनादिकाल से पराधीन होकर संसाररूप वन में भ्रमण किया ।

बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि

पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥113॥

भावशुद्धिपूर्वक पूजादि लाभ न चाहकर ।

निज शक्ति से धारण करो आतपन आदि योग को ॥११३॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू भाव से विशुद्ध होकर पूजा-लाभादिक को नहीं चाहते हुए बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना, इत्यादि उत्तर-गुणों का पालन कर ।

तत्त्व की भावना का उपदेश

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं

तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥114॥

प्रथम द्वितीय तृतीय एवं चतुर्थ पंचम तत्त्व की ।

आद्यन्तरहित त्रिवर्ग हर निज आत्मा की भावना ॥११४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू प्रथम जो जीव-तत्त्व उसका चिन्तवन कर, द्वितीय अजीव-तत्त्व का चिन्तन कर, तृतीय आस्रव-तत्त्व का चिन्तन कर, चतुर्थ बन्ध-तत्त्व का चिन्तन कर, पंचम संवर-तत्त्व का चिन्तन कर, और त्रिकरण अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध होकर आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर; जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है ।

तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं

ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥115॥

भावों निरन्तर बिना इसके चिन्तवन अर ध्यान के ।

जरा-मरण से रहित सुखमय मुक्ति की प्राप्ति नहीं ॥११५॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जबतक वह जीवादि तत्त्वों को नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित मोक्ष-स्थान को नहीं पाता है ।

पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा

परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥116॥

परिणाम से ही पाप सब अर पुण्य सब परिणाम से ।

यह जैनशासन में कहा बंधमोक्ष भी परिणाम से ॥११६॥

अन्वयार्थ : पाप-पुण्य, बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा है । जीव के मिथ्यात्व, विषय-कषाय, अशुभ-लेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रव का बंध होता है । परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंद-कषाय शुभ-लेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रव का बंध होता है । शुद्ध-परिणाम-रहित विभावरूप परिणाम से बंध होता है । शुद्धभाव के सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है ।

पाप-बंध के परिणाम

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं

बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥117॥

जिनवच परान्मुख जीव यह मिथ्यात्व और कषाय से ।

ही बांधते हैं करम अशुभ असंयम से योग से ॥११७॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभ-लेश्या पाई जाती है इसप्रकार के भावों से यह जीव जिनवचन से पराङ्मुख होता है -- अशुभकर्म को बाँधता है वह पाप ही बाँधता है ।

इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो
दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥118॥
भावशुद्धीवंत अर जिन-वचन अराधक जीव ही ।
हैं बाँधते शुभकर्म यह संक्षेप में बंधन-कथा ॥११८॥

अन्वयार्थ : उस पूर्वोक्त जिनवचन का श्रद्धानी मिथ्यात्व-रहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-कर्म को बाँधता है जिसने कि -- भावों में विशुद्धि प्राप्त की है । ऐसे दोनों प्रकार के जीव शुभाशुभ कर्म को बाँधते हैं, यह संक्षेप से जिन-भगवान ने कहा है ।

आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥119॥
अष्टकर्मों से बंधा हूँ अब इन्हें मैं दग्धकर ।
ज्ञानादिगुण की चेतना निज में अनंत प्रकट करूँ ॥११९॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्ठित हूँ, इसलिये इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण जिनस्वरूप चेतना को प्रगट करूँ ।

कर्मों का नाश के लिये उपदेश

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥120॥
शील अठदशसहस उत्तर गुण कहे चौरासी लख ।
भा भावना इन सभी की इससे अधिक क्या कहें हम ॥१२०॥

अन्वयार्थ : शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं । आचार्य कहते हैं कि हे मुने ! बहुत झूठे प्रलापरूप निरर्थक वचनों से क्या ? इन शीलों को और उत्तरगुणों को सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना-चिन्तन-अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर ।

भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मुत्तूण
रुद्दट्ट झाइयाइं झमेण जीवेण चिरकालं ॥121॥
रौद्रार्त वश चिरकाल से दु:ख सहे अगणित आजतक ।
अब तज इन्हें ध्या धरमसुखमय शुक्ल भव के अन्ततक ॥१२१॥

अन्वयार्थ : हे मुनि ! तू आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़ और धर्म-शुक्लध्यान हैं उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीव ने अनादिकाल से बहुत समय तक किये हैं ।

यह ध्यान भावलिंगी मुनियों का मोक्ष करता है

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥122॥
इन्द्रिय-सुखाकुल द्रव्यलिंगी कर्मतरु नहिं काटते ।
पर भावलिंगी भवतरु को ध्यान करवत काटते ॥१२२॥

अन्वयार्थ : कई द्रव्य-लिंगी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रिय-सुख में व्याकुल हैं, उनके यह धर्म-शुक्ल-ध्यान नहीं होता है । वे तो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं, और जो भाव-लिंगी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़े से संसाररूपी वृक्ष को काटते हैं ।

दृष्टांत

जह दीवो गब्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥123॥
ज्यों गर्भगृह में दीप जलता पवन से निर्बाध हो ।
त्यों जले निज में ध्यान दीपक राग से निर्बाध हो ॥१२३॥
अन्वयार्थ : जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहाँ पवन का संचार नहीं है ऐसे मध्य के घर में पवन की बाधा-रहित निश्चल होकर जलता है (प्रकाश करता है), वैसे ही अंतरंग मन में रागरूपी पवन से रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूप को प्रकाशित करता है ।

पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश

झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥124॥
शुद्धात्म एवं पंचगुरु का ध्यान धर इस लोक में ।
वे परम मंगल परम उत्तम और वे ही हैं शरण ॥१२४॥
अन्वयार्थ : हे मुने ! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर । यहाँ 'अपि' शब्द शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान को सूचित करता है । पंच परमेष्ठी कैसे हैं ? मंगल अर्थात् पापके नाशक अथवा सुखदायक और चउशरण अर्थात् चार शरण तथा 'लोक' अर्थात् लोक के प्राणियों से अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं -- युक्त (सहित) हैं । नर-सुर-विद्याधर सहित हैं, पूज्य हैं, इसलिये वे 'लोकोत्तम' कहे जाते हैं, आराधना के नायक है, वीर हैं, कर्मों के जीतने को सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा देते हैं । इसप्रकार पंच परम गुरु का ध्यान कर ।

ज्ञान के अनुभवन का उपदेश

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥125॥
आनन्दमय मृतु जरा व्याधि वेदना से मुक्त जो ।
वह ज्ञानमय शीतल विमल जल पियो भविजन भाव से ॥१२५॥
अन्वयार्थ : भव्य-जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधि-स्वरूप जरा-मरण की वेदना (पीड़ा) को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमानंद सुखरूप होते हैं ।

ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं

यह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥126॥
ज्यों बीज के जल जाने पर अंकुर नहीं उत्पन्न हो ।
कर्मबीज के जल जाने पर न भवांकुर उत्पन्न हो ॥१२६॥
अन्वयार्थ : जैसे पृथ्वी-तल पर बीज के जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भाव-लिंगी श्रमण के संसार का कर्मरूपी बीज दग्ध होता है इसलिये संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है ।

उपसंहार - भाव श्रमण हो

भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं जव्वसवणो य
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥127॥
भावलिंगी सुखी होते द्रव्यलिंगी दु:ख लहें ।
गुण-दोष को पहिचानकर सब भाव से मुनिपद गहें ॥१२७॥

अन्वयार्थ : भावश्रमण तो सुखों को पाता है और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है, इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भाव सहित संयमी बन ।

भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर

तित्थयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं बज्जरियं ॥128॥
भाव से जो हैं श्रमण जिनवर कहें संक्षेप में ।
सब अभ्युदय के साथ ही वे तीर्थंकर गणधर बनें ॥१२८॥

अन्वयार्थ : जो भावसहित मुनि हैं वे अभ्युदय-सहित तीर्थंकर-गणधर आदि पदवी के सुखों को पाते हैं, यह संक्षेप में कहा है ।

भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं ॥129॥
जो ज्ञान-दर्शन-चरण से हैं शुद्ध माया रहित हैं ।
रे धन्य हैं वे भावलिंगी संत उनको नमन है ॥१२९॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं इसीलिये भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं । उनके लिये हमारा मन-वचन-कायसे सदा नमस्कार हो ।

भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते

इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥130॥
जो धीर हैं गम्भीर हैं जिन भावना से सहित हैं ।
वे ऋद्धियों में मुग्ध न हों अमर विद्याधरों की ॥१३०॥

अन्वयार्थ : जिनभावना (सम्यक्त्व भावना) से वासित जीव किंनर, किंपुरुष देव, कल्पवासी देव और विद्याधर, इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल-ऋद्धियों में मोह को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है ? धीर है, दृढ़बुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंग का धारक है ।

भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं

किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥131॥
इन ऋद्धियों से इसतरह निरपेक्ष हों जो मुनि धवल ।
क्यों अरे चाहें वे मुनी निस्सार नरसुर सुखों को ॥१३१॥

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकार की भी ऋद्धि को नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनि-प्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवों

के सुख-भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोह को प्राप्त हो ? कैसा है मुनिधवल ? मोक्ष को जानता है, उसही की तरफ दृष्टि है, उसहीका चिन्तन करता है ।

बुढापा आए उससे पहले अपना हित कर लो

उत्थरइ जा ण जरओ रोयग्गी जा ण डहइ देहउडिं
इन्दियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥132॥
करले भला तबतलक जबतक वृद्धपन आवे नहीं ।
अरे देह में न रोग हो बल इन्द्रियों का ना घटे ॥१३२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जब तक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटीको भस्म न करे और जब तक इन्द्रियों का बल न घटे तब तक अपना हित कर लो ।

अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥133॥
छह काय की रक्षा करो षट् अनायतन को त्यागकर ।
और मन-वच-काय से तू ध्या सदा निज आतमा ॥१३३॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू छहकाय के जीवों पर दया कर और छह अनायतनों को मन, वचन, काय के योगों से छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भाव को भा ।

अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥134॥
भवभ्रमण करते आजतक मन-वचन एवं काय से ।
दश प्राणों का भोजन किया निज पेट भरने के लिये ॥१३४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अनंतभवसागर में भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर, जीवोंके दश प्रकार के प्राणों का आहार, भोग-सुख के कारण के लिये मन, वचन, काय से किया ।

प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥135॥
इन प्राणियों के घात से योनी चौरासी लाख में ।
बस जन्मते मरते हुये, दुख सहे तूने आजतक ॥१३५॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! हे महायश ! तूने प्राणियों के घातसे चौरासी लाख योनियों के मध्यमें उत्पन्न होते हुए और मरते हुए निरंतर दुःख पाया ।

दया का उपदेश

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥136॥
यदि भवभ्रमण से ऊबकर तू चाहता कल्याण है ।

तो मन वचन अर काय से सब प्राणियों को अभय दे ॥१३६॥
अन्वयार्थ : हे मुने ! जीवों को और प्राणीभूत सत्त्वों को अपना परंपरा से कल्याण और सुख होने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान दे ।

मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥137॥
अक्रियावादी चुरासी बत्तीस विनयावादि हैं ।
सौ और अस्सी क्रियावादी सरसठ अरे अज्ञानि हैं ॥१३७॥
अन्वयार्थ : एकसौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं ।

अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥138॥
गुड़-दूध पीकर सर्प ज्यों विषरहित होता है नहीं ।
अभव्य त्यों जिनधर्म सुन अपना स्वभाव तजे नहीं ॥१३८॥
अन्वयार्थ : अभव्य-जीव भले प्रकार जिन-धर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है । यहाँ दृष्टांत है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विष-रहित नहीं होता है ।

एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्यजीवो ण रोचेदि ॥139॥
मिथ्यात्व से आछन्नबुद्धि अभव्य दुर्मति दोष से ।
जिनवरकथित जिनधर्म की श्रद्धा कभी करता नहीं ॥१३९॥
अन्वयार्थ : दुर्मत जो सर्वथा एकान्त मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धि से (मिथ्यात्वसे) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्य-जीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है ।

कुगुरु के त्याग की प्रेरणा

कुच्छियधम्मम्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥140॥
तप तपें कुत्सित और कुत्सित साधु की भक्ति करें ।
कुत्सित गति को प्राप्त हों रे मूढ़ कुत्सितधर्मरत ॥१४०॥
अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंद्य) मिथ्या-धर्म में रत (लीन) है जो पाखंडी निंद्यभेषियों की भक्ति-संयुक्त है, जो निंद्य मिथ्यात्व-धर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, इसलिये मिथ्यात्व छोड़ना, यह उपदेश है ।

अनायातन त्याग की प्रेरणा

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥141॥

कुनय अर कुशास्त्र मोहित जीव मिथ्यावास में ।
घूमा अनादिकाल से हे धीर ! सोच विचार कर ॥१४१॥
अन्वयार्थ : इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्व का आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियों का संसार में कुनय -- सर्वथा एकान्त उन सहित कुशास्त्र, उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने ! तू विचार कर ।

सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥142॥
तीन शत त्रिषष्ठि पाखण्डी मतों को छोड़कर ।
जिनमार्ग में मन लगा इससे अधिक मुनिवर क्या कहें ॥१४२॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तीन सौ त्रेसठ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपने मन को रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहने से क्या ?

सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥143॥
अरे समकित रहित साधु सचल मुरदा जानिये ।
अपूज्य है ज्यों लोक में शव त्योंहि चलशव मानिये ॥१४३॥
अन्वयार्थ : लोकमें जीवरहित शरीरको 'शब' कहते हैं, 'मृतक' या मुरदा कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष 'चलता हुआ' मृतक है । मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है और 'दर्शनरहित चलता हुआ मुरदा' लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं । मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं अथवा परलोक में निंद्यगति पाकर अपूज्य होता है ।

सम्यक्त्व का महानपना

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥144॥
तारागणों में चन्द्र ज्यों अर मृगों में मृगराज ज्यों ।
श्रमण-श्रावक धर्म में त्यों एक समकित जानिये॥१४४॥
अन्वयार्थ : जैसे तारकाओं के समूह में चंद्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूहमें मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है वह अधिक है ।

सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है

जह फणिराओ *सोहइ फणमणिमाणिक्ककिकिरणविप्फुरिओ
तह विमलदंसणधरो +जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥145॥
नागेन्द्र के शुभ सहसफण में शोभता माणिक्य ज्यों ।
अरे समकित शोभता त्यों मोक्ष के मारग विषैं ॥१४५॥
अन्वयार्थ : जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) है सो फण जो सहस्र फण उनमें लगे हुए मणियों के बीच जो लाल-माणिक्य उनकी किरणों से विस्फुरित (दैदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्ति-सहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण में शोभा पाता है ।

सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा

जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥146॥
चन्द्र तारागण सहित ही लसे नभ में जिसतरह ।
व्रत तप तथा दर्शन सहित जिनलिंग शोभे उसतरह ॥१४६॥

अन्वयार्थ : जैसे निर्मल आकाशमंडल में ताराओं के समूहसहित चन्द्रमा का बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतों में निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है ।

ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥147॥
इमि जानकर गुण-दोष मुक्ति महल की सीढ़ी प्रथम ।
गुण रतन में सार समकित रतन को धारण करो ॥१४७॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर । वह गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मंदिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिए पहिली सीढ़ी है ।

जीवपदार्थ का स्वरूप

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य
दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिन्देहिं ॥148॥
देहमित अर कर्त्ता-भोक्ता जीव दर्शन-ज्ञानमय ।
अनादि अनिधन अमूर्तिक कहा जिनवर देव ने ॥१४८॥

अन्वयार्थ : जीव नामक पदार्थ है, सो कैसा है -- कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन-ज्ञान-उपयोगवाला है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतराग ने कहा है ।

सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥149॥
जिन भावना से सहित भवि दर्शनावरण-ज्ञानावरण ।
अर मोहनी अन्तराय का जड़ मूल से मर्दन करें ॥१४९॥

अन्वयार्थ : सम्यक् प्रकार जिनभावना से युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातिया कर्मोंका निष्ठापन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है ।

घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥150॥
हो घातियों का नाश दर्शन-ज्ञान-सुख-बल अनंते ।
हो प्रगट आतम माहिं लोकालोक आलोकित करें ॥१५०॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और बल (वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं । जब जीव के

ये गुण की पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है तब लोकालोक को प्रकाशित करता है ।

अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम

णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥151॥
यह आत्मा परमात्मा शिव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध है ।
ज्ञानि है परमेष्ठि है सर्वज्ञ कर्म विमुक्त है ॥१५१॥

अन्वयार्थ : परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुख ब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो ।

अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहदोसवज्जिओ सयलो
तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥152॥
घन-घाति कर्म विमुक्त अर त्रिभुवनसदन संदीप जो ।
अर दोष अष्टादश रहित वे देव उत्तम बोधि दें ॥१५२॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार घातिया कर्मों से रहित, क्षुधा, तृषा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों से रहित, सकल (शरीरसहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करनेके लिए प्रकृष्ट दीपकतुल्य देव हैं, वह मुझे उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति देवे, इस प्रकार आचार्य ने प्रार्थना की है ।

अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥153॥
जिनवर चरण में नमें जो नर परम भक्तिभाव से ।
वर भाव से वे उखाड़े भवबेलि को जड़मूल से ॥१५३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष परम भक्ति अनुराग से जिनवर के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त्र' से जन्म अर्थात् संसाररूपी वेल के मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उनको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं) ।

जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥154॥
जल में रहें पर कमल पत्ते लिप्त होते हैं नहीं ।
सत्पुरुष विषय-कषाय में त्यों लिप्त होते हैं नहीं ॥१५४॥

अन्वयार्थ : जैसे कमलिनी का पत्र अपने स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष है, वह अपने भाव से ही क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियों के विषयों से लिप्त नहीं होता है ।

भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं

ते च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥155॥
सब शील संयम गुण सहित जो उन्हें हम मुनिवर कहें ।

बहु दोष के आवास जो हैं अरे श्रावक सम न वे ॥१५५॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त भावसहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणों से सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान होते हैं, उनही को हम मुनि कहते हैं । जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मलिनचित्तसहित मिथ्यादृष्टि है और बहुत दोषों का आवास (स्थान) है वह तो भेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है ।

सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर

ते धीरवीरपुरिसा खमदखग्गेण विप्फुरंतेण

दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥156॥

जीते जिन्होंने प्रबल दुर्द्धर अर अजेय कषाय भट ।

रे क्षमादम तलवार से वे धीर हैं वे वीर हैं ॥१५६॥

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने क्षमा और इन्द्रियों का दमन वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनतारहित उज्जवल तीक्ष्ण खड्ग, उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बलसे उद्धत कषायरूप सुभटों को जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिक में जीतनेवाले तो 'कहने के सुभट' हैं ।

आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहिं

विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥157॥

विषय सागर में पड़े भवि ज्ञान-दर्शन करों से ।

जिनने उतारे पार जग में धन्य हैं भगवंत वे ॥१५७॥

अन्वयार्थ : जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवों को -- दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथों से–पार उतार दिये, वे मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रादिकसे पूज्य ज्ञानी धन्य हैं ।

ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा

विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥158॥

पुष्पित विषयमय पुष्पों से अर मोहवृक्षारूढ़ जो ।

अशेष माया बेलि को मुनि ज्ञानकरवत काटते ॥१५८॥

अन्वयार्थ : माया (कपट) रूपी वेल जो मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विष के फूलों से फूल रही है उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र से समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं ।

उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं

मोहमयगारवेहिं य मुक्का ये करुणभावसंजुत्ता

ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥159॥

मोहमद गौरवरहित करुणासहित मुनिराज जो ।

अरे पापस्तंभ को चारित खड़ग से काटते ॥१५९॥

अन्वयार्थ : जो मुनि मोह-मद-गौरव से रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को हनते हैं अर्थात् मूल से काट डालते हैं ।

इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥160॥
सद्गुणों की मणिमाल जिनमत गगन में मुनि निशाकर ।
तारावली परिवेष्ठित हैं शोभते पूर्णेन्दु सम ॥१६०॥
अन्वयार्थ : जैसे पवनपथ (आकाश) में ताराओं की पंक्ति के परिवार से वेष्टित पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमतरूप आकाश में गुणों के समूहरूपी मणियों की माला से मुनीन्द्ररूप चंद्रमा शोभा पाता है ।

इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थंकर आदि पद के सुखों पाते हैं

चक्कहररामकेसवसुखरजिणगणहराइसोक्खाइं
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥161॥
चक्रधर बलराम केशव इन्द्र जिनवर गणपति ।
अर ऋद्धियों को पा चुके जिनके हैं भाव विशुद्धवर ॥१६१॥
अन्वयार्थ : विशुद्ध भाववाले ऐसे नर मुनि हैं वह चक्रधर (चक्रवर्ती, छह खंडका राजेन्द्र) राम (बलभद्र) केशव (नारायण, अर्द्धचक्री) सुरवर (देवों का इन्द्र) जिन (तीर्थंकर पंचकल्याणक सहित, तीन-लोक से पूज्य पद) गणधर (चार ज्ञान और सप्तऋद्धि के धारक मुनि) इनके सुखों को तथा चारणमुनि (जिनके आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जाती हैं) की ऋद्धियों को प्राप्त हुए ।

मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया–जीवा ॥162॥
जो अमर अनुपम अतुल शिव अर परम उत्तम विमल है ।
पा चुके ऐसा मुक्ति सुख जिनभावना भा नेक नर ॥१६२॥
अन्वयार्थ : [जिणभावणभाविया जीवा] जिन-भावना को भाने वाला जीव [पत्ता वरसिद्धिसुहं] मोक्ष को वर कर सुख को प्राप्त करता है जो [सिवम्] 'शिव' (कल्याणरूप), [अजरामरलिंगम्] वृद्ध होना और मरना इन दोनों चिन्हों से रहित, [अणोवम] अनुपम, [उत्तमं] सर्वोत्तम, [परम] सर्वोत्कृष्ट [विमलम्] विमल, [अतुलम्] अतुलनीय है ।

सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें

ते मे तिहुवणमहिमा सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा
दिंतु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥163॥
जो निरंजन हैं नित्य हैं त्रैलोक्य महिमावंत हैं ।
वे सिद्ध दर्शन-ज्ञान अर चारित्र शुद्धि दें हमें ॥१६३॥
अन्वयार्थ : सिद्ध भगवान मुझे दर्शन, ज्ञानमें और चारित्र में श्रेष्ठ उत्तमभाव की शुद्धता देवें । कैसे हैं सिद्ध भगवान् ? तीन भुवन से पूज्य हैं, शुद्ध हैं, अर्थात् द्रव्य-कर्म और नोकर्मरूप मल से रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् रागादि कर्म से रहित हैं, जिनके कर्म की उत्पत्ति नहीं है, नित्य हैं -- प्राप्त स्वभाव का फिर नाश नहीं है ।

भाव के कथन का संकोच

किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो यकाममोक्खो य
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥164॥
इससे अधिक क्या कहें हम धर्मार्थकाम रु मोक्ष में ।
या अन्य सब ही कार्य में है भाव की ही मुख्यता ॥१६४॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभाव में समस्तरूप से स्थित है ।

भावपाहुड़ को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश

इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥165॥
इस तरह यह सर्वज्ञ भासित भावपाहुड जानिये ।
भाव से जो पढ़ें अविचल थान को वे पायेंगे ॥१६५॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार इस भावपाहुड का सर्वबुद्ध-सर्वज्ञदेव ने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं वे शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को पाते हैं ।

मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥1॥
परद्रव्य को परित्याग पाया ज्ञानमय निज आतमा ।
शत बार उनको हो नमन निष्कर्म जो परमातमा ॥१॥

अन्वयार्थ : [जेण] जिनने [परदव्वं] परद्रव्य को [चइऊण] छोड़कर, [झडियकम्मेण] द्रव्यकर्म, भावकर्म [य] और नोकर्म खिर गये हैं ऐसे होकर, निर्मल [णाणमयं] ज्ञानमयी [अप्पाणं] आत्मा को [उवलद्धं] प्राप्त कर लिया है [तस्स] इस प्रकार के [देवस्स] देव को हमारा [णमो णमो] नमस्कार हो-नमस्कार हो ।

मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥2॥
परमपदथित शुध अपरिमित ज्ञान-दर्शनमय प्रभु ।
को नमन कर हे योगिजन ! परमात्म का वर्णन करूँ ॥२॥

अन्वयार्थ : जिनके [अणंतवर] अनन्त और श्रेष्ट [णाणदंसणं] ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, [सुद्धं] विशुद्ध है / कर्म-मल से रहित है, जिनका [परमपयं] पद परम-उत्कृष्ट है, [तं य] उन [देवं] देव को [णमिऊण] नमस्कार कर, [परमप्पाणं] परमात्मा (उत्कृष्ट शुद्धात्मा) को, परम योगीश्वर जो [परमजोईणं] उत्कृष्ट-योग्य ध्यान के करनेवाले मुनिराजों के लिये [वोच्छं] कहूँगा ।

ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं

जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥3॥
योगस्थ योगीजन अनवरत अरे ! जिसको जान कर ।
अनंत अव्याबाध अनुपम मोक्ष की प्राप्ति करें ॥३॥

अन्वयार्थ : [जं] उसे (परमात्मा को) [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [जोअत्थो] योग (ध्यान) में स्थित होकर [अणवरयं] निरन्तर उस परमात्मा को [जोइऊण] अनुभवगोचर करके [अव्वाबाहमणंतं] अव्याबाध (जहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं है) अनंत (जिसका नाश नहीं है) [अणोवमं] अनुपम (जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है) [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त होता है ।

आत्मा के तीन प्रकार

तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥4॥
त्रिविध आतमराम में बहिरातमापन त्यागकर ।
अन्तरात्म के आधार से परमात्मा का ध्यान धर ॥४॥

अन्वयार्थ : [देहीणं] देह में [हु] स्फुट [सो] वह [अप्पा] आत्मा [तिपयारो] तीन प्रकार का है -- [परमंतरबाहिरो] अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा, [तत्थ] वहां [अंतोवाएण] अंतरात्मा के उपाय द्वारा [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [चयहि] छोड़कर [परो] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करना चाहिये ।

तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥5॥
ये इन्द्रियाँ बहिरात्मा अनुभूति अन्तर आतमा ।
जो कर्ममल से रहित हैं वे देव हैं परमातमा ॥५॥

अन्वयार्थ : [अक्खाणि] अक्ष (स्पर्शन आदि इन्द्रियों में लीन उपयोग) वह तो [बाहिरप्पा] बहिरात्मा है, [हु] स्पष्ट-प्रकट [अप्पसंकप्पो] आत्मा का अनुभवगोचर संकल्प [अंतरअप्पा] अंतरात्मा है तथा [कम्मकलंकविमुक्को] कर्म-मल से रहित [परमप्पा] परमात्मा है, वही [देवो] देव [भण्णए] है ।

परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥6॥
है परमजिन परमेष्ठी है शिवंकर जिन शाश्वता ।
केवल अनिन्द्रिय सिद्ध है कल-मलरहित शुद्धातमा ॥६॥

अन्वयार्थ : [मलरहिओ] मल-रहित (द्रव्य-कर्म, भाव-कर्मरूप मल से रहित), [कलचत्तो] शरीर-रहित, [अणिंदिओ] इन्द्रिय-रहित / अनिंदित, [केवलो] असहाय / केवलज्ञानमयी, [विसुद्धप्पा] विशुद्धात्मा, [परमेट्ठी] परम-पद (मोक्ष-पद) में स्थित, [परमजिणो] सब कर्मों को जीतने वाले, [सिवंकरो] भव्य-जीवों को परम मंगल तथा मोक्ष का कारण, [सासओ] अविनाशी, [सिद्धो] सिद्ध है (परमात्मा ऐसा है) ।

अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥7॥
जिनदेव का उपदेश यह बहिरातमापन त्यागकर ।
अरे ! अन्तर आतमा परमात्मा का ध्यान धर ॥७॥

अन्वयार्थ : [अन्तरप्पा] अन्तरात्मा का [आरुहवि] आश्रय लेकर [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [तिविहेण] मन वचन काय से [छंडिऊण] छोड़कर [परमप्पा] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करो, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेव ने [उवइट्ठं] उपदेश दिया है ।

बहिरात्मा की प्रवृत्ति

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूववचुओ
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥8॥
निजरूप से च्युत बाह्य में स्फुरितबुद्धि जीव यह ।
देहादि में अपनत्व कर बहिरात्मपन धारण करे ॥८॥

अन्वयार्थ : [बहिरत्थे] बाह्य पदार्थ (धन, धान्य, कुटुम्ब आदि) [फुरियमणो] स्फुरित (तत्पर) मनवाला, [इंदियदारेण] इन्द्रियों के द्वार से [णियसरूववचुओ] अपने स्वरूप से च्युत, [णियदेहं] अपने देह को ही [अप्पाणं] आत्मा [अज्झवसदि] जानता है / निश्चय करता है, वह [मूढदिट्ठीओ] मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है ।

मिथ्यादृष्टि का लक्षण

णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण
अच्चेयणं पि गहिय झाइज्जइ परमभावेण ॥9॥
निज देहसम परदेह को भी जीव जानें मूढ़जन ।
उन्हें चेतन जान सेवें यद्यपि वे अचेतन ॥९॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि पुरुष [णियदेहसरिच्छं] अपनी देह के समान [परविग्गहं] दूसरे की देह को [पिच्छिऊण] देख करके यह देह [अच्चेयणं] अचेतन है तो [पि] भी मिथ्याभाव से [परमभावेण] आत्मभाव द्वारा [पयत्तेण] बड़ा यत्न करके पर की आत्मा [गहिय] मानता, [झाइज्जइ] ध्याता है अर्थात् समझता है ।

मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥10॥
निजदेह को निज-आतमा परदेह को पर-आतमा ।
ही जानकर ये मूढ़ सुत-दारादि में मोहित रहें ॥१०॥

अन्वयार्थ : [य] इस प्रकार [देहेसु] देह में [सपरज्झवसाएणं] स्व-पर के अध्यवसाय (मिथ्या-निश्चय) के द्वारा जिनने [अविदिदत्थमप्पाणं] पदार्थ (आत्मा) का स्वरूप नहीं जाना है ऐसे [मणुयाणं] मनुष्यों के [सुयदाराईविसए] पुत्र, स्त्री आदि विषयों में [मोहो] मोह [वड्ढए] प्रवर्तता है ।

मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो
मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥11॥
कुज्ञान में रत और मिथ्याभाव से भावित श्रमण ।
मद-मोह से आच्छन्न भव-भव देह को ही चाहते ॥११॥

अन्वयार्थ : [मणुओ] मनुष्य [मोहोदएण] मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) [मिच्छाणाणेसु] मिथ्याज्ञान में [रओ] लीन (मिथ्याचारित्र) [मिच्छाभावेण] मिथ्याभाव से [भाविओ संतो] भाता हुआ [पुणरवि] फिर-फिर (आगामी जन्म में) इस [अंगं सं] देह को अच्छा समझकर [मण्णए] चाहता है ।

देह में निर्मम निर्वाण को पाता है

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो
आदासहावे सुरतो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥12॥
जो देह से निरपेक्ष निर्म निरारंभी योगिजन ।
निर्द्वन्द रत निजभाव में वे ही श्रमण मुक्ति वरें ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो [देहे] देह में [णिरवेक्खो] निरपेक्ष (उदासीन) है, [णिद्दंदो] निर्द्वंद्व (राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट मान्यता से रहित) है, [णिम्ममो] निर्ममत्त्व (देहादिक में 'यह मेरा' ऐसी बुद्धि से रहित) है, [णिरारंभो] आरंभ (पाप-कार्यों) से रहित है और [आदासहावे] आत्म-स्वभाव में [सुरतः] भली-प्रकार से लीन है, [जोई सो] वह मुनि [लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त करता है ।

बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं
एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥13॥
परद्रव्य में रत बंधें और विरक्त शिवरमणी वरें ।
जिनदेव का उपदेश बंध-अबंध का संक्षेप में ॥१३॥

अन्वयार्थ : [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में रत [विविहकम्मेहिं] अनेक प्रकार के कर्मों से [बज्झदि] बँधता है, और [विरओ] विरत [मुच्चेइ] छूटता है, [एसो] यह [बंधमुक्खस्स] बन्ध और मोक्ष का [समासदो] संक्षेप में [जिणउवदेसो] जिन-देव का उपदेश है ।

स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥14॥
नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत हैं ।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें करमानन्त हैं ॥१४॥

अन्वयार्थ : [सद्दव्वरओ] स्व-द्रव्य (अपनी आत्मा में) लीन [सवणो] श्रमण (मुनि) [णियमेण] नियम से [सम्माइट्ठी] सम्यग्दृष्टि [हवेइ] होता है और [उण] फिर [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्वभावरूप परिणमन से [दुट्ठट्ठकम्माइं] दुष्ट आठ कर्मों का [खवेइ] क्षय / नाश करता है ।

परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू
मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ॥15॥
किन्तु जो परद्रव्य रत वे श्रमण मिथ्यादृष्टि हैं ।
मिथ्यात्व परिणत वे श्रमण दुष्टाष्ट कर्मों से बंधें ॥१५॥

अन्वयार्थ : [पुण] पुनः जो [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में लीन है, [सो साहू] वह साधु [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि [हवेइ] होता है और वह [मिच्छत्तपरिणदो] मिथ्यात्व-भावरूप परिणमन करता हुआ [दुट्ठट्ठकम्मेहिं] दुष्ट अष्ट कर्मों से [पुण] फिर से [बज्झदि] बँधता है ।

पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई होइ
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥16॥
परद्रव्य से हो दुर्गति निजद्रव्य से होती सुगति ।
यह जानकर रति करो निज में अर करो पर से विरति ॥१६॥

अन्वयार्थ : [परदव्वादो] पर-द्रव्य से [दुग्गई] दुर्गति [हु] ही [होइ] होती है और [सद्दव्वादो] स्व-द्रव्य से [सुग्गई] सुगति ही होती है [इय] ऐसा [णाऊण] जानकर [सदव्वे] स्व-द्रव्य में [रई] रति / लीनता [कुणह] करो और [इयरम्मि] अन्य जो पर-द्रव्य उनसे [विरह] विरति करो ।

पर-द्रव्य का स्वरूप

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥17॥
जो आतमा से भिन्न चित्ताचित्त एवं मिश्र हैं ।
उन सर्व-द्रव्यों को अरे ! पर-द्रव्य जिनवर ने कहा ॥१७॥

अन्वयार्थ : [आदसहावादण्णं] आत्म-स्वभाव से अन्य [सच्चित्ताचित्तमिस्सियं] सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक), अचित्त (धन, धान्य, सुवर्णादिक) और मिश्र (आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक) [हवदि] होते हैं, [तं] ये सब [परदव्वं] परद्रव्य [भणियं] जानो, ऐसा [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने [अवितत्थं] सत्यार्थ कहा है ।

स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणां हवदि सद्दव्वं ॥18॥
दुष्टाष्ट कर्मों से रहित जो ज्ञानविग्रह शुद्ध है ।
वह नित्य अनुपम आतमा स्वद्रव्य जिनवर ने कहा ॥१८॥
अन्वयार्थ : [दुट्ठट्ठकम्मरहियं] ज्ञानावरणादिक दुष्ट अष्ट-कर्मों से रहित, [अणोवमं] जिसको किसी की अपेक्षा नहीं ऐसा अनुपम, [णाणविग्गहं] जिसको ज्ञान ही शरीर है और [णिच्चं] जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और [सुद्धं] विकार-रहित केवलज्ञानमयी [अप्पाणां] आत्मा [जिणेहिं] जिन भगवान् सर्वज्ञ ने [कहियं] कहा है, वह ही [सद्दव्वं] स्व-द्रव्य [हवदि] होता है ।

ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरिता
जे जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं ॥19॥
पर द्रव्य से हो परान्मुख निज द्रव्य को जो ध्यावते ।
जिनमार्ग में संलग्न वे निर्वाणपद को प्राप्त हों ॥१९॥
अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [परदव्वपरम्मुहा] पर-द्रव्य में पराङ्मुख होकर [सदव्वं] स्व-द्रव्य (निज आत्म-द्रव्य) का [झायंति] ध्यान करते हैं वे [दु] प्रगट [सुचरिता] सुचरित्रा अर्थात् निर्दोष चारित्र-युक्त होते हुए [जिणवराण] जिनवर तीर्थंकरों के [मग्गे] मार्ग का [अणुलग्गा] अनुलग्न (अनुसंधान / अनुसरण) करते हुए [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहहिं] प्राप्त करते हैं ।

शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥20॥
शुद्धात्मा को ध्यावते जो योगि जिनवरमत विषैं ।
निर्वाणपद को प्राप्त हों तब क्यों न पावें स्वर्ग वे ॥२०॥
अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी [जिणवरमएण] जिनेन्द्र-भगवान के मत से [सुद्धमप्पाणं] शुद्ध आत्मा को [झाणे] ध्यान में [झाएइ] ध्याता है [जेण] उससे [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त करता है, तो [तेण] वे [किं] क्या [सुरलोयं] स्वर्ग-लोक [ण] नहीं [लहइ] प्राप्त कर सकते है ? ॥२०॥

दृष्टांत

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥21॥
गुरु भार लेकर एक दिन में जाँय जो योजन शतक ।
जावे न क्यों क्रोशार्द्ध में इस भुवनतल में लोक में ॥२१॥
अन्वयार्थ : जो (पुरुष) [गुरुभारं] बड़ा भार [लेवि] लेकर [दियहेणेक्केण] एक दिन में [जोयणसयं] सौ योजन चला [जाइ] जावे [सो किं] तब क्या वह [भुवणयले] पृथ्वी-तल पर [कोसद्धं] आधा कोश [पि हु] भी [ण] नहीं [जाउ] चल [सक्कए] सकता ?

अन्य दृष्टान्त

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥22॥
जो अकेला जीत ले जब कोटिभट संग्राम में ।
तब एक जन को क्यों न जीते वह सुभट संग्राम में ॥२२॥

अन्वयार्थ : जो कोई [सुहडो] सुभट [सव्वेहिं] सब ही [संगामएहिं] संग्राम में [कोडिए] करोड़ मनुष्यों से भी [ण] न [जिप्पइ] जीता जाय [सो] वह [सुहडो] सुभट [इक्किं णरेण] एक मनुष्य को [संगामए] संग्राम में [किं] क्या न [जिप्पइ] जीते ?

ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति

सग्गं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि ज्ञाणजोएण
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥23॥
शुभभाव-तप से स्वर्ग-सुख सब प्राप्त करते लोक में ।
पाया सो पाया सहजसुख निजध्यान से परलोक में ॥२३॥

अन्वयार्थ : [तवेण] तप द्वारा [सग्गं] स्वर्ग तो [सव्वो वि] सब ही [पावए] पाते हैं [तहिं वि] तथापि जो [ज्ञाणजोएण] ध्यान के योग से [जो पावइ] जो (स्वर्ग) पाते हैं [सो] वे ही [परलोए] परलोक में [सासयं] शाश्वत [सोक्खं] सुख को भी [पावइ] प्राप्त करते हैं ।

दृष्टांत / दार्ष्टान्त

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥24॥
ज्यों शोधने से शुद्ध होता स्वर्ण बस इसतरह ही ।
हो आतमा परमातमा कालादि लब्धि प्राप्त कर ॥२४॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [अइसोहणजोएणं] शुद्ध-सामग्री के संबंध से [सुद्धं हेमं] सुवर्ण शुद्ध [हवेइ] हो जाता है [तह य] वैसे ही [कालाईलद्धीए] काल-लब्धि आदि सामग्री की प्राप्ति से यह [अप्पा] आत्मा [परमप्पओ] परमात्मा [हवदि] हो जाता है ।

अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥25॥
ज्यों धूप से छाया में रहना श्रेष्ठ है बस उसतरह ।
अव्रतों से नरक व्रत से स्वर्ग पाना श्रेष्ठ है ॥२५॥

अन्वयार्थ : [वयतवेहि] व्रत और तप से [सग्गो] स्वर्ग [वर] होता है परन्तु [इयरेहिं] अव्रत और अतप से [णिरइ] नारकीय [दुक्खं] दुःख [होउ] होता है, [छायातवट्ठियाणं] छाया और आतप में बैठनेवाले के [पडिवालंताण] प्रतिपालक कारणों में [गुरुभेयं] बड़ा भेद है ।

संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥26॥
जो भव्यजन संसार-सागर पार होना चाहते ।
वे कर्म ईंधन-दहन निज शुद्धात्मा को ध्यावते ॥२६॥

अन्वयार्थ : [जो] यदि [रुद्दाओ] भीषण [संसारमहण्णवाउ] संसाररूपी समुद्र से [णिस्सरिदुं] निकलना [इच्छइ] चाहता है [सो] तो

[कम्मिंधणाण] कर्मरूपी ईंधन को [डहणं] दहन करनेवाले [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [झायइ] ध्यान कर ।

आत्मा का ध्यान करने की विधि

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥27॥
अरे मुनिजन मान-मद आदिक कषायें छोड़कर ।
लोक के व्यवहार से हों विरत ध्याते आतमा ॥२७॥

अन्वयार्थ : [सव्वे] समस्त [कसाय] कषाय [गारव] गारव, [मय] मद, [रायदोसवामोहं] राग, द्वेष तथा मोह से [मोत्तुं] मुक्त होकर और [लोयववहारविरदो] लोक-व्यवहार से विरक्त होकर [झाणत्थो] ध्यान में स्थित हुआ [अप्पा] आत्मा को [झाएह] ध्याओ ।

इसी को विशेषरूप से कहते हैं

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥28॥
मिथ्यात्व एवं पाप-पुन अज्ञान तज मन-वचन से ।
अर मौन रह योगस्थ योगी आतमा को ध्यावते ॥२८॥

अन्वयार्थ : [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व, [अण्णाणं] अज्ञान, [पावं पुण्णं] पाप-पुण्य इनको [तिविहेण] मन-वचन-काय से [चएवि] छोड़कर [मोणव्वएण] मौन-व्रत के द्वारा [जोई] योगी [जोयत्थो] एकाग्र-चित्त होकर (आठ प्रकार के योग द्वारा ?) [जोयए अप्पा] आत्मा का ध्यान करना चाहिए ।

क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ?

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा
जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥29॥
दिखाई दे जो मुझे वह रूप कुछ जाने नहीं ।
मैं करूँ किससे बात मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ ॥२९॥

अन्वयार्थ : [जं] जिस [रूवं] रूप को [मया] मैं [दिस्सदे] देखता हूँ [तं] वह [सव्वहा] सब प्रकार से कुछ भी [ण] नहीं [जाणादि] जानता है (रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है) और [जाणगं] ज्ञायक (जानने वाला) [दिस्सदे णेव] दीखता नहीं [तम्हा] इसलिये [हं] मैं [केण] किससे [जंपेमि] बोलूँ ?

ध्यान द्वारा संवर और निर्जरा

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥30॥
सर्वास्रवों के रोध से संचित करम खप जाय सब ।
जिनदेव के इस कथन को योगस्थ योगी जानते ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जोयत्थो] योग में स्थित होकर (आठ-प्रकार के योग द्वारा?) [सव्वासवणिरोहेण] समस्त आस्रव का निरोध करके [संचिदं] संचित [कम्मं] कर्मों का [खवदि] क्षय करता है, उसे [जोई] योगी [जाणए] जानो, [जिणदेवेण भासियं] ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥31॥

इस जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥32॥
जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।
जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ॥३१॥
इमि जान जोगी छोड़ सब व्यवहार सर्वप्रकार से ।
जिनवर कथित परमातमा का ध्यान धरते सदा ही ॥३२॥
अन्वयार्थ : जो [ववहारे] व्यवहार में [सुत्तो] सोता है [सो जोई] वह योगी [सकज्जम्मि] स्व के कार्य में [जग्गए] जागता है और जो [ववहारे] व्यवहार में [जग्गदि] जागता है [सो] वह अपने [अप्पणो कज्जे] आत्म-कार्य में [सुत्तो] सोता है ।
[इस] ऐसा [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [सव्वं] समस्त [ववहारं] व्यवहार को [सव्वहा] सब प्रकार से [चयइ] छोड़कर [जह] जैसे [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [भणियं] कहा, वैसे [परमप्पाणं] परमात्मा का [झायइ] ध्यान करता है ।

जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥33॥
पंच समिति महाव्रत अर तीन गुप्ति धर यती ।
रत्नत्रय से युक्त होकर ध्यान अर अध्ययन करो ॥३३॥
अन्वयार्थ : [पंचमहव्वय] पाँच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पाँच समिति, [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति [जुत्तो] युक्त, [रयणत्तयसंजुत्तो] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) संयुक्त होकर [झाणज्झयणं] ध्यान और अध्ययन [सया] सदा [कुणह] करो ।

जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥34॥
आराधना करते हुये को अराधक कहते सभी ।
आराधना का फल सुनो बस एक केवलज्ञान है ॥३४॥
अन्वयार्थ : [रयणत्तयमाराहं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की आराधना करते हुए [जीवो] जीव को [आराहओ] आराधक [मुणेयव्वो] जानो, [तस्स] जिस [आराहणाविहाणं] आराधना के विधान (निर्माण) का [फलं] फल [केवलं णाणं] केवलज्ञान है ।

शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य
सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥35॥
सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आतमा सिध शुद्ध है ।
यह कहा जिनवरदेव ने तु स्वयं केवलज्ञानमय ॥३५॥
अन्वयार्थ : [आदा] आत्मा [सिद्धो] सिद्ध (किसी से उत्पन्न नहीं , स्वयंसिद्ध) है, [सुद्धो] शुद्ध (कर्म-मल से रहित) है, [सव्वण्हू] सर्वज्ञ है [य] और [सव्वलोयदरिसी] सर्वदर्शी (सब लोक-अलोक को देखने वाला) है, [सो] इसप्रकार [तुमं] हे मुने ! तुम उसे [केवलं णाणं] केवलज्ञान [जाण] जान, ऐसा [जिणवरेहिं भणिओ] जेनेन्द्र देव ने कहा है ॥३५॥

रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥36॥

रतनत्रय जिनवर कथित आराधना जो यति करें ।
वे धरें आतम ध्यान ही संदेह इसमें रंच ना ॥३६॥

अन्वयार्थ : जो [पि] भी [जोई] योगी (मुनि) [जिणवरमएण] जिनेश्वर-देव के मत की आज्ञा से [रयणत्तयं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की [हु] निश्चय से [आराहइ] आराधना करता है [सो] वह [अप्पाणं] आत्मा के [झायदि] ध्यान से [परं] पर-द्रव्य को [परिहरइ] छोड़ता है इसमें [ण संदेहो] सन्देह नहीं है ।

आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ?

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दसणं णेयं
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥37॥
तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ॥38॥
जानना ही ज्ञान है अरु देखना दर्शन कहा ।
पुण्य-पाप का परिहार चारित यही जिनवर ने कहा ॥३७॥
तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है तत्ग्रहण सम्यग्ज्ञान है ।
जिनदेव ने ऐसा कहा परिहार ही चारित्र है ॥३८॥

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जाने [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पिच्छइ] जो देखे [तं] वह [दसणं] दर्शन [णेयं] जानो और जो [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारो] परिहार है [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] जानो ।
[तच्चरुई] तत्त्वरुचि [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है [च] और [तच्चग्गहणं] तत्त्व का ग्रहण [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [हवइ] है, [परिहारो] परिहार [चारित्तं] चारित्र है, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [परूवियं] कहा है ।

सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो, लहेइ णिव्वाणं
दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥39॥
इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु
तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥40॥
दृग-शुद्ध हैं वे शुद्ध उनको नियम से निर्वाण हो ।
दृग-भ्रष्ट हैं जो पुरुष उनको नहीं इच्छित लाभ हो ॥३९॥
उपदेश का यह सार जन्म-जरा-मरण का हरणकर ।
समदृष्टि जो मानें इसे वे श्रमण-श्रावक कहे हैं ॥४०॥

अन्वयार्थ : [दंसणसुद्धो] दर्शन से शुद्ध [सुद्धो] शुद्ध है, जिसका [दंसणसुद्धो] दर्शन शुद्ध है वही [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहेइ] पाता है और [तं] जो [दंसणविहीणपुरिसो] सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष [इच्छियं लाहं] ईप्सित लाभ (मोक्ष) को [लहइ] प्राप्त [ण] नहीं करता ।
[इय] इस प्रकार [उवएसं] उपदेश का [सारं] सार है, जो [खु] स्पष्ट रूप से [जरमरणहरं] जरा व मरण को हरनेवाला है, [सवणाणं] मुनियों को [पि] तथा [सावयाणं] श्रावकों द्वारा ऐसा [मण्णए] मानना ही [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [भणियं] कहा है ।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥41॥
यह सर्वदर्शी का कथन कि जीव और अजीव की ।

भिन-भिन्नता को जानना ही एक सम्यग्ज्ञान है ॥४१॥
अन्वयार्थ : [जिणवरमएण] जिनवर के मत द्वारा जो [जोई] योगी मुनि [जीवाजीवविहत्ती] जीव-अजीव के भेद [जाणेइ] जानना, [तं] वह [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [भणियं] है ऐसा [सव्वदरसीहिं] सर्वदर्शी (सर्वज्ञदेव) ने [अवियत्थं] कहा है ।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ॥42॥
इमि जान करना त्याग सब ही पुण्य एवं पाप का ।
चारित्र है यह निर्विकल्पक कथन यह जिनदेव का ॥४२॥
अन्वयार्थ : [जं जाणिऊण] उस पूर्वोक्त (जीवाजीव के भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान) को जानकर [जोई] योगी (मुनि) का [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारं] परिहार [कुणइ] करना, [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] होता है, ऐसा [कम्मरहिएहिं] कर्म से रहित (सर्वज्ञदेव) ने [अवियप्पं] कहा है ।

रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥43॥
रतनत्रय से युक्त हो जो तप करे संयम धरे ।
वह ध्यान धर निज आतमा का परमपद को प्राप्त हो ॥४३॥
अन्वयार्थ : जो [रयणत्तयजुत्तो] रत्नत्रय संयुक्त होता हुआ [संजदो] संयमी बनकर अपनी [ससत्तीए] शक्ति के अनुसार [तवं] तप [कुणइ] करता है [सो] वह [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [झायंतो] ध्यान करता हुआ [परमपयं] परमपद निर्वाण को [पावइ] प्राप्त करता है ।

ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥44॥
रुष-राग का परिहार कर त्रययोग से त्रयकाल में ।
त्रयशल्य विरहित रतनत्रय धर योगि ध्यावे आत्मा ॥४४॥
जो जीव माया-मान-लालच-क्रोध को तज शुद्ध हो ।
निर्मल-स्वभाव धरे वही नर परमसुख को प्राप्त हो ॥४५॥
अन्वयार्थ : [तिहि] मन-वचन-काय से, [तिण्णि] वर्षा-शीत-उष्ण तीन कालयोगों को [णिच्चं धरवि] नित्य धारणकर, [तियरहिओ] माया, मिथ्या, निदान तीन शल्यों से रहित होकर [तह] तथा [तिएण परियरिओ] दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मंडित होकर और [दोदोसविप्पमुक्को] दो दोष (राग-द्वेष) से रहित होता हुआ [जोई] योगी (मुनि) [परमप्पा झायए] शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।
[मय] मद, [माय] माया, [कोहरहिओ] क्रोध से रहित, [लोहेण] लोभ से [विवज्जिओ] विशेषरूप से रहित [य जो जीवो] ऐसा जो जीव [सो] वह अपने [णिम्मलसहावजुत्तो] निर्मल विशुद्ध स्वभाव युक्त हो [पावइ उत्तमं सोक्खं] उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥46॥
जो रुद्र विषय-कषाय युत जिन भावना से रहित हैं ।

जिनलिंग से हैं परायुख वे सिद्धसुख पावें नहीं ॥४६॥

अन्वयार्थ : [विसयकसाएहि जुदो] विषय-कषायों से युक्त, [रुद्दो] रूद्र के सामान [परमप्पभावरहियमणो] परमात्मा की भावना से रहित है, [जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो] ऐसा जीव जिनमुद्रा से परान्मुख है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] वह ऐसे सिद्धिसुख (मोक्ष-सुख) को प्राप्त नहीं करता ।

जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारी

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्दिट्ठं
सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥47॥
जिनवर कथित जिनलिंग ही है सिद्धसुख यदि स्वप्न में ।
भी ना रुचे तो जान लो भव गहन वन में वे रुलें ॥४७॥

अन्वयार्थ : [जिणवरुद्दिट्ठं] जिन भगवानके द्वारा कही गई [जिणमुद्दं] जिनमुद्रा से [णियमेण] नियम से [सिद्धिसुहं] सिद्धिसुख (मुक्तिसुख) [हवेइ] होता है । ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को, [सिविणे] स्वप्न में [वि] भी [ण रुच्चइ] नहीं रुचती है (अवज्ञा करता है), [पुण जीवा] तो वह जीव [भवगहणे] संसाररूप गहन वन में [अच्छंति] रहता है ।

परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥48॥
परमात्मा के ध्यान से हो नाश लोभ कषाय का ।
नवकर्म का आस्रव रुके यह कथन जिनवरदेव का ॥४८ ॥

अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी ध्यानी [परमप्पय] परमात्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [मलदलोहेण] मल देनेवाले लोभकषाय के [मुच्चेइ] छूटने से [णवं कम्मं] नवीन कर्म [णादियदि] को नहीं स्वीकारता ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थंकर सर्वज्ञदेव ने [णिद्दिट्ठं] कहा है ।

ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥49॥
जो योगि सम्यक्दर्शपूर्वक चारित्र दृढ़ धारण करे ।
निज आतमा का ध्यानधर वह मुक्ति की प्राप्ति करे ॥४९॥

अन्वयार्थ : [दिढचरित्तो] दृढ़चारित्रवान [होऊण] होकर, [दिढसम्मत्तेण] दृढ़ सम्यक्त्व से [भावियमईओ] जिसकी मति भावित है, (ऐसा योगी / मुनि) [अप्पाणं] आत्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [परमपयं] परमपद (मोक्ष) [पावए जोई] प्राप्त करता है ।

चारित्र क्या है ?

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥50॥
चारित्र ही निजधर्म है अर धर्म आत्मस्वभाव है ।
अनन्य निज परिणाम वह ही राग-द्वेष विहीन है ॥५०॥

अन्वयार्थ : [चरणं] चारित्र [हवइ सधम्मो] स्वधर्म (आत्मा का धर्म) है, [धम्मो] धर्म [सो] वह [अप्पसमभावो] आत्मा का समभाव [हवइ] है, [सो] वह (समभाव) [रागरोसरहिओ] रागद्वेष रहित [जीवस्स] जीव का [अणण्णपरिणामो] अनन्य परिणाम है ।

जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥51॥
फटिकमणिसम जीव शुध पर अन्य के संयोग से ।
वह अन्य-अन्य प्रतीत हो, पर मूलत: है अनन्य ही ॥५१॥
अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फलिहमणि] स्फटिक-मणि [विसुद्धो] विशुद्ध (निर्मल) है, [सो] वह [परदव्वजुदो] पर-द्रव्य (पीत, रक्त, हरित पुष्पादिक) से युक्त होने पर [अण्णं] अन्य सा [हवेइ] होता है, [तह] वैसे ही [हु] स्पष्ट रूप से [जीवो] जीव [रागादिविजुत्तो] रागादिक भावों से युक्त होने पर [अणण्णविहो] अन्य-अन्य प्रकार [हवदि] होता है ।

वह बाह्य में कैसा होता है?
देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ॥52॥
देव-गुरु का भक्त अर अनुरक्त साधक वर्ग में ।
सम्यक्सहित निज ध्यानरत ही योगि हो इस जगत में ॥५२॥
अन्वयार्थ : जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तबतक [देवगुरुम्मि य भत्तो] देव (अरहंत-सिद्ध), और गुरु (शिक्षा-दीक्षा देनेवाले) में तो भक्ति, [साहम्मियसंजदेसु] साधर्मि तथा संयमी (मुनि) में [अणुरत्तो] अनुराग-सहित [सम्मत्तमुव्वहंतो] सम्यक्त्व पूर्वक [झाणरओ] ध्यान में रत (प्रीतिवान) [सो] ऐसा [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता है ।

तीन गुप्ति की महिमा
उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥53॥
उग्र तप तप अज्ञ भव-भव में न जितने क्षय करें ।
विज्ञ अन्तर्मुहूरत में कर्म उतने क्षय करें ॥५३॥
अन्वयार्थ : [भवहि बहुएहिं] बहुत भवों में [उग्गतवेणण्णाणी] उग्र (तीव्र) तप के द्वारा अज्ञानी [जं कम्मं खवदि] जितने कर्मों का क्षय करता है [तं णाणी] उतने ज्ञानी (मुनि) कर्मों का [तिहि गुत्तो] तीन गुप्ति द्वारा [अंतोमुहुत्तेण] अंतर्मुहूर्त में ही [खवेइ] क्षय कर देता है ।

परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है
सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥54॥
परद्रव्य में जो साधु करते राग शुभ के योग से ।
वे अज्ञ हैं पर विज्ञ राग नहीं करें परद्रव्य में ॥५४॥
अन्वयार्थ : [सुहजोएण] शुभ योग अर्थात् [परदव्वे] पर-द्रव्य में [सुभावं] सुभाव (प्रीतिभाव) को [कुणइ] करता है [रागदो] राग-द्वेष है, [सो] वह [साहू] साधु [तेण दु] उस कारण से [अण्णाणी] अज्ञानी है और [णाणी] ज्ञानी [एत्तो] इससे [विवरीओ] विपरीत [दु] है ।

ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता
आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥55॥
निज भाव से विपरीत अर जो आस्रवों के हेतु हैं ।
जो उन्हें मानें मुक्तिमग वे साधु सचमुच अज्ञ हैं ॥५५॥

अन्वयार्थ : [य तहा] और वही [आसवहेदू] आस्रव का कारण [भावं] रागभाव यदि [मोक्खस्स] मोक्ष के [कारणं] लिए भी [हवदि] हो तो [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह (जीव / मुनि) भी अज्ञानी है, [आदसहावा] आत्म-स्वभाव से [दु विवरीदु] विपरीत है ।

कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो

सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥56॥

अरे जो कर्मजनित वे करें आत्मस्वभाव को ।

खण्डित अत: वे अज्ञजन जिनधर्म के दूषक कहे ॥५६॥

अन्वयार्थ : [जो] जिसकी [कम्मजादमइओ] बुद्धि कर्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष [सहावणाणस्स] स्वभाव-ज्ञान (केवलज्ञान) उसको [खंडदूसयरो] खंडरूप दूषण करनेवाला है, [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह स्पष्ट-रूप से अज्ञानी है, [जिणसासणदूसगो भणिदो] जिनमत को दूषित करता है ।

चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं

अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥57॥

चारित रहित है ज्ञान-दर्शन हीन तप संयुक्त है ।

क्रिया भाव विहीन तो मुनिवेष से क्या साध्य है ॥५७॥

अन्वयार्थ : [चरित्तहीणं] चारित्र रहित [णाणं] ज्ञान, [दंसणहीणं] दर्शन (सम्यक्त्व) रहित [तवेहिं संजुत्तं] तपयुक्त, [अण्णेसु] अन्य भी [भावरहियं] भाव-रहित [लिंगग्गहणेण] लिंग / भेष ग्रहण करने में [किं सोक्खं] क्या सुख है ?

सांख्यमती आदि के आशय का निषेध

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी

सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥58॥

जो आत्मा को अचेतन हैं मानते अज्ञानि वे ।

पर ज्ञानिजन तो आतमा को एक चेतन मानते ॥५८॥

अन्वयार्थ : [अच्चेयणं] अचेतन में [पि] भी [चेदा जो मण्णइ] चेतन को जो मानता है [सो हवेइ अण्णाणी] वह अज्ञानी है [सो पुण] और फिर जो [चेयणे] चेतन में ही [चेदा] चेतन को [मण्णइ] मानता है उसे [णाणी भणिओ] ज्ञानी कहा है ।

तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो

तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥59॥

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं

णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥60॥

निरर्थक तप ज्ञान विरहित तप रहित जो ज्ञान है ।

यदि ज्ञान तप हों साथ तो निर्वाणपद की प्राप्ति हो ॥५९॥

क्योंकि चारों ज्ञान से भी महामण्डित तीर्थंकर ।

भी तप करें बस इसलिए तप करो सम्यग्ज्ञान युत ॥६०॥

अन्वयार्थ : [तवरहियं] तपरहित [जं] जो [णाणं] ज्ञान और [णाणविजुत्तो] ज्ञानरहित [तवो वि] तप भी (दोनों ही) [अकयत्थो] अकार्य हैं, [तम्हा] इसलिये [णाणतवेणं] ज्ञान-तप की संयक्तता से ही [संजुत्तो लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त होता है ।

बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो

सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥61॥

स्वानुभव से भ्रष्ट एवं शून्य अन्तरलिंग से ।

बहिर्लिंग जो धारण करें वे मोक्षमग नाशक कहे ॥६१॥

अन्वयार्थ : [बाहिरलिंगेण जुदो] बाह्य लिंग / भेष सहित है और [अब्भंतरलिंगरहिय] अभ्यंतर लिंग से रहित [परियम्मो] परिकर्म (नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीर-संस्कार) होने पर भी [सो] वह [सगचरित्तभट्ठो] स्व-चारित्र से भ्रष्ट होने से [मोक्खपहविणासगो साहू] मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला साधु है ॥६१॥

तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि

तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥62॥

अनुकूलता में जो सहज प्रतिकूलता में नष्ट हो ।

इसलिये प्रतिकूलता में करो आतम साधना ॥६२॥

अन्वयार्थ : [सुहेण] सुख से [भाविदं] भाया हुआ [णाणं] ज्ञान, [दुहे] दुःख (उपसर्ग-परिषहादि) के द्वारा [विणस्सदि] नष्ट हो [जादे] जाता है, [तम्हा] इसलिये [जहाबलं] यथा-शक्ति [जोई] योगी (मुनि) [दुक्खेहि] तपश्चरणादि के कष्ट (दुःख) सहित [अप्पा] आत्मा को [भावए] भावे ।

आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण

झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥63॥

आहार निद्रा और आसन जीत ध्याओ आतमा ।

बस यही है जिनदेव का मत यही गुरु की आज्ञा ॥६३॥

अन्वयार्थ : [आहारासणणिद्दाजयं च] आहार, आसन, निद्रा को जीतकर और [जिणवरमएण] जिनवर का मत [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णियअप्पा] निज आत्मा का [झायव्वो] ध्यान [काऊण] करना ।

ध्येय का स्वरूप

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा

सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥64॥

ज्ञान दर्शन चरित मय जो आतमा जिनवर कहा ।

गुरु की कृपा से जानकर नित ध्यान उसका ही करो ॥६४॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा [चरित्तवंतो] चारित्रवान् है और [अप्पा] आत्मा [दंसणणाणेण संजुदो] दर्शन-ज्ञानसहित है, [सो] [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णिच्चं] नित्य [झायव्वो] ध्यान करना ।

आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं

भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥65॥

आत्मा का जानना भाना व करना अनुभवन ।

तथा विषयों से विरक्ति उत्तरोत्तर है कठिन ॥६५॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा का [णज्जइ] जानना [दुक्खे] दुःख से (दुर्लभ) होता है, फिर [अप्पा] आत्मा को [णाऊण] जानकर भी (आत्म-स्वभाव की) [भावणा] भावना (फिर-फिर चिन्तन / अनुभव) [दुक्खं] दुःख से (उग्र पुरुषार्थ से) होती है, [सहावपुरिसो] आत्म-स्वभाव की [भाविय] भावना होने पर भी [विसयेसु] विषयों से [विरज्जए] विरक्त बड़े [दुक्खं] दुःख से (अपूर्व पुरुषार्थ से) होता है ।

जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम

विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥66॥

जबतक विषय में प्रवृत्ति तबतक न आतमज्ञान हो ।

इसलिए आतम जानते योगी विषय विरक्त हों ॥६६॥

अन्वयार्थ : [ताम] तब तक [अप्पा] आत्मा को [ण णज्जइ] नहीं जानता [जाम] जब तक [णरो] मनुष्य (इन्द्रिय) [विसएसु] विषयों में [पवट्टए] प्रवर्त्तता है, इसलिये [जोई] योगी (मुनि) [विसए] विषयों से [विरत्तचित्तो] विरक्त-चित्त होता हुआ [अप्पाणं] आत्मा को [जाणेइ] जानता है ।

आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है

अप्पा जाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा

हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥67॥

निज आतमा को जानकर भी मूढ़ रमते विषय में ।

हो स्वानुभव से भ्रष्ट भ्रमते चतुर्गति संसार में ॥६७॥

अन्वयार्थ : [णरा केई] कई मनुष्य [अप्पा जाऊण] आत्मा को जानकर भी [सब्भावभावपब्भट्ठा] अपने स्वभाव की भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] मोहित होकर [मूढा] अज्ञानी / मूर्ख [चाउरंगं] चार गतिरूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया

छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥68॥

अरे विषय विरक्त हो निज आतमा को जानकर ।

जो तपोगुण से युक्त हों वे चतुर्गति से मुक्त हों ॥६८॥

अन्वयार्थ : [जे पुण] फिर जो [विसयविरत्ता] विषयों से विरक्त हो [अप्पा णाऊण] आत्मा को जानकर, [भावणासहिया] बारंबार भावना द्वारा (अनुभव करते हैं), [तवगुणजुत्ता] तप और मूलगुण-उत्तरगुणों से युक्त होकर [चाउरंगं] संसार को [छंडंति] छोड़ते हैं, [ण संदेहो] इसमें कोई संदेह नहीं है ।

पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो

सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥69॥

यदि मोह से पर द्रव्य में रति रहे अणु प्रमाण में ।

विपरीतता के हेतु से वे मूढ़ अज्ञानी रहें ॥६९॥

अन्वयार्थ : [परमाणुपमाणं वा] परमाणु प्रमाण (लेशमात्र) भी [परदव्वे] पर-द्रव्य में [मोहादो] मोह द्वारा [रदि] रति (राग / प्रीति) [हवेदि] हो तो [सो मूढो अण्णाणी] वह पुरुष मूढ है, अज्ञानी है, [आदसहावस्स] आत्म-स्वभाव से [विवरीओ] विपरीत है ।

इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं
होदि ध्रुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥70॥
शुद्ध दर्शन दृढ़ चरित एवं विषय विरक्त नर ।
निर्वाण को पाते सहज निज आतमा का ध्यान धर ॥७०॥

अन्वयार्थ : [विसएसु विरत्तचित्ताणं] विषयों से विरक्त होकर [दंसणसुद्धीण] दर्शन की शुद्धता और [दिढचरित्ताणं] दृढ़ चारित्र पूर्वक [अप्पा झायंताणं] आत्मा का ध्यान करने से [होदि ध्रुवं णिव्वाणं] निश्चित ही निर्वाण होता है ।

राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥71॥
पर द्रव्य में जो राग वह संसार कारण जानना ।
इसलिये योगी करें नित निज आतमा की भावना ॥७१॥

अन्वयार्थ : [जेण] क्योंकि [परे दव्वे] पर-द्रव्य में [रागो] राग है वह [संसारस्स हि कारणं] संसार ही का कारण है, [तेणावि] इसलिए [जोइणो] योगीश्वर मुनि [णिच्चं] नित्य [अप्पे सभावणं] आत्म की भावना [कुज्जा] करते हैं ।

रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥72॥
निन्दा-प्रशंसा दुक्ख-सुख अर शत्रु-बंधु-मित्र में ।
अनुकूल अर प्रतिकूल में समभाव ही चारित्र है ॥७२॥

अन्वयार्थ : [णिंदाए य पसंसाए] निन्दा और प्रशंसा में, [दुक्खे य सुहएसु य] दुःख और सुख में और [सत्तूणं चेव बंधूणं] शत्रु और मित्र में [समभावदो] समभाव (समतापरिणाम), [चारित्तं] चारित्र होता है ।

पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥73॥
सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥74॥
जिनके नहीं व्रत-समिति चर्या भ्रष्ट हैं शुधभाव से ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान योग नहीं बने ॥७३॥
जो शिवविमुख नर भोग में रत ज्ञानदर्शन रहित हैं ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान-योग नहीं बने ॥७४॥

अन्वयार्थ : [चरियावरिया] चर्या (आचारक्रिया) आवृत / अप्रकट, [वदसमिदिवज्जिया] व्रत-समिति से रहित और [सुद्धभावपब्भट्ठा] शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट [केई जंपंति णरा] कई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि (पंचमकाल) [झाणजोयस्स] ध्यान-योग [ण हु कालो] का काल ही नहीं है ।

[सम्मत्तणाणरहिओ] सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित, [अभव्वजीवो] अभव्य-जीव, [हु मोक्खपरिमुक्को] स्पष्ट रूप से मोक्ष से विपरीत, [संसारसुहे] संसार-सुख में [सुरदो] अच्छी तरह रत (आसक्त) कहते हैं कि [ण हु कालो भणइ झाणस्स] अभी ध्यान का काल नहीं है ।

जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥75॥
जो मूढ़ अज्ञानी तथा व्रत समिति गुप्ति रहित हैं ।
वे कहें कि इस काल में निज ध्यान योग नहीं बने ॥७५॥

अन्वयार्थ : जो [पंचसु महव्वदेसु] पांच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पांच समिति और [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति इनमें [मूढो अण्णाणी] मूढ है, अज्ञानी है (इनका स्वरूप नहीं जानता) वह इसप्रकार [ण हु कालो भणइ झाणस्स] कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है ॥७५॥

अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥76॥
भरत-पंचमकाल में निजभाव में थित संत के ।
नित धर्मध्यान रहे न माने जीव जो अज्ञानि वे ॥७६॥

अन्वयार्थ : [भरहे] भरत-क्षेत्र में [दुस्समकाले] दुःषमकाल (पंचमकाल) में, [तं अप्पसहावठिदे] आत्म-स्वभाव में स्थित [साहुस्स] साधु (मुनि) के [धम्मज्झाणं] धर्म-ध्यान [हवेइ] होता है, [ण हु मण्णइ] जो यह नहीं मानता है [सो वि अण्णाणी] वह अज्ञानी है ।

इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥77॥
रतनत्रय से शुद्ध आतम आतमा का ध्यान धर ।
आज भी हों इन्द्र आदिक प्राप्त करते मुक्ति फिर ॥७७॥

अन्वयार्थ : [अज्ज वि] आज (पंचमकाल में) भी जो मुनि [तिरयणसुद्धा] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता पूर्वक [अप्पा झाएवि] आत्मा का ध्यान कर [लहहिं इंदत्तं लोयंतियदेवत्तं] इन्द्रपद अथवा लोकान्तिक देवपद को प्राप्त करते हैं और [तत्थ चुआ] वहाँ से चयकर [णिव्वुदिं जंति] निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध

जे पावमोहियमई लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥78॥
जिन लिंग धर कर पाप करते पाप मोहितमति जो ।
वे च्युत हुए हैं मुक्तिमग से दुर्गति दुर्मति हो ॥७८॥

अन्वयार्थ : [जे] जिनकी [पावमोहियमई] पाप से मोहित बुद्धि है वे [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र का [लिंग घेत्तूण] लिंग ग्रहण करके भी [पावं कुणंति] पाप करते हैं, [पावा ते] वे पापी [मोक्खमग्गम्मि] मोक्षमार्ग से [चत्ता] च्युत हैं ।

मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥79॥
हैं परिग्रही अध:कर्मरत आसक्त जो वस्त्रादि में ।
अर याचना जो करें वे सब मुक्तिमग से बाह्य हैं ॥७९॥

अन्वयार्थ : [जे] जो [पंचचेलसत्ता] पांच प्रकार के वस्त्रों (अंडज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज) में आसक्त, [गंथग्गाही] परिग्रह धारी [य] और [जायणासीला] मांगने का ही जिनका स्वभाव है [आधाकम्मम्मि रया] पाप-कर्म में रत हैं, [ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि] वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं ।

मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ?

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥80॥
रे मुक्त हैं जो जितकषायी पाप के आरंभ से ।
परिषहजयी निर्ग्रंथ वे ही मुक्तिमारग में कहे ॥८०॥

अन्वयार्थ : [णिग्गंथ] निर्ग्रंथ (परिग्रह-रहित), [मोहमुक्का] मोह-रहित, [बावीसपरीसहा] बाईस परीषहों को सहने वाले, [जियकसाया] कषायों को जिनने जीत लिया और [पावारंभविमुक्का] आरंभादिक पापों में नहीं प्रवर्तते [ते] उन्हें [मोक्खमग्गम्मि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है ।

मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति

उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥81॥
त्रैलोक में मेरा न कोई मैं अकेला आतमा ।
इस भावना से योगिजन पाते सदा सुख शास्वता ॥८१॥

अन्वयार्थ : [उद्धद्धमज्झलोये] ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक (तीनों-लोकों) में [केई मज्झं ण] कोई मेरा नहीं है, [अहयमेगागी] मैं एकाकी हूँ, [इय भावणाए] ऐसी भावना से [जोई] योगी (मुनि) [हु] प्रकटरूप से [सासयं सोक्खं] शाश्वत सुख को [पावंति] प्राप्त करता है ।

फिर कहते हैं

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिंता
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥82॥
जो ध्यानरत सुचरित्र एवं देव-गुरु के भक्त हैं ।
संसार-देह विरक्त वे मुनि मुक्तिमारग में कहे ॥८२॥

अन्वयार्थ : जो [देवगुरूणं] देव-गुरु के [भत्ता] भक्त, [णिव्वेय] निर्वेद (संसार-देह-भोगों से विरागता) की [परंपरा विचिंतिंता] परंपरा का चिन्तन करते हैं, [झाणरया] ध्यान में रत [सुचरित्ता] जिनके उत्तम चारित्र है [ते] उन्हें [मोक्खमग्गम्मि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है ।

निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥83॥
निज-द्रव्यरत यह आतमा ही योगि चारित्रवंत है ।
यह ही बने परमातमा परमार्थनय का कथन यह ॥८३॥

अन्वयार्थ : [णिच्छयणयस्स एवं] निश्चयनय के मत से [अप्पा] आत्मा [अप्पम्मि] आत्मा ही में [अप्पणे] अपने ही लिये [सुरदो] भले प्रकार रत (लीन) हो जावे [सो] वह [हु] स्पष्ट रूप से [सुचरित्तो] सम्यक्चारित्रवान् [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता हुआ [सो लहइ णिव्वाणं] वह निर्वाण को पाता है ।

इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्दंदो ॥84॥
ज्ञानदर्शनमय अवस्थित पुरुष के आकार में ।
ध्याते सदा जो योगि वे ही पापहर निर्द्वन्द हैं ॥८४॥

अन्वयार्थ : [पुरिसायारो] पुरुषाकार [अप्पा] आत्मा [जोई] योगी (मन, वचन, काय के योगों का निरोध, सुनिश्चल) है और [वरणाणदंसणसमग्गो] श्रेष्ठ सम्यकरूप ज्ञान तथा दर्शन से समग्र है / परिपूर्ण है इसप्रकार जो [झायदि] ध्यान करता है [सो] वह [जोई] योगी (मुनि) [पावहरो] पाप को हरता है और [णिद्दंदो] निर्द्वन्द्व (रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित) [हवदि] है ।

अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥85॥
जिनवरकथित उपदेश यह तो कहा श्रमणों के लिए ।
अब सुनो सुखसिद्धिकर उपदेश श्रावक के लिए ॥८५॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सवणाणं] श्रमण (मुनियों) को [जिणेहि कहियं] जिनदेव ने कहा है, [पुण] अब [सावयाण] श्रावकों के लिए [संसारविणासयरं] संसार का विनाश करनेवाला और [सिद्धियरं कारणं परमं] सिद्धि (मोक्ष) को करने उत्कृष्ट कारण [सुणसु] सुनाते हैं ।

श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥86॥
सबसे प्रथम सम्यक्त्व निर्मल सर्व दोषों से रहित ।
कर्मक्षय के लिये श्रावक-श्राविका धारण करें ॥८६॥

अन्वयार्थ : [सुणिम्मलं] सुनिर्मल और [सुरगिरीव] मेरुवत् [णिक्कंपं] निःकंप (अचल) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [गहिऊण] ग्रहण करके [सावय] श्रावक [दुक्खक्खयट्ठाए] दुःख का क्षय करने के लिए [तं झाणे झाइज्जइ] उसका (सम्यग्दर्शन का) ध्यान करना ।

सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥87॥
किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥88॥
अरे सम्यग्दृष्टि है सम्यक्त्व का ध्याता गृही ।
दुष्टाष्ट कर्मों को दहे सम्यक्त्व परिणत जीव ही ॥८७॥
मुक्ति गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का ।
यह जान लो हे भव्यजन ! इससे अधिक अब कहें क्या ॥८८॥

अन्वयार्थ : जो (श्रावक) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व का [झायइ] ध्यान करता है [सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो] वह जीव सम्यग्दृष्टि है और [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्व-रूप परिणमता हुआ [उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि] दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षय करता है ।
[किं बहुणा भणिएणं] बहुत कहने से क्या साध्य है, जो [णरवरा] नरप्रधान [काले] अतीतकाल में [जे सिद्धा] सिद्ध [गए] हुए हैं और [जे

वि भविया] आगामी काल में [सिज्झिहहि] सिद्ध होंगे [तं जाणह सम्ममाहप्पं] वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो ।

जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पडिया मणुया
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥89॥
वे धन्य हैं सुकृतार्थ हैं वे शूर नर पण्डित वही ।
दु:स्वप्न में सम्यक्त्व को जिनने मलीन किया नहीं ॥८९॥

अन्वयार्थ : [ते धण्णा] वे धन्य हैं, [सुकयत्था] सुकृतार्थ हैं, [ते सूरा] वे शूरवीर हैं, [ते वि पडिया] वे ही पंडित हैं, [मणुया] वे ही मनुष्य हैं, [जेहिं] जिन पुरुषों ने [सिद्धियरं] मुक्ति को करनेवाले [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [सिविणे वि] स्वप्न में भी [ण मइलियं] मलिन नहीं किया (अतीचार नहीं लगाया) ।

इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥90॥
सब दोष विरहित देव अर हिंसारहित जिनधर्म में ।
निर्ग्रन्थ गुरु के वचन में श्रद्धान ही सम्यक्त्व है ॥९०॥

अन्वयार्थ : [हिंसारहिए धम्मे] हिंसा-रहित धर्म में, [अट्ठारहदोसवज्जिए देवे] अठारह दोष-रहित देव में, [णिग्गंथे] निर्ग्रंथ (गुरु), [पव्वयणे] प्रवचन (मोक्ष का मार्ग, शास्त्र, आगम) में [सद्दहणं] श्रद्धान [होइ सम्मत्तं] होने पर सम्यक्त्व होता है ।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥91॥
यथाजातस्वरूप संयत सर्व संग विमुक्त जो ।
पर की अपेक्षा रहित लिंग जो मानते समदृष्टि वे ॥९१॥

अन्वयार्थ : [जहजायरूवरूवं] यथाजातरूप (नग्न) तो जिसका रूप है, [सुसंजयं] सुसंयत (सम्यक्प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवों पर दया), [सव्वसंगपरिचत्तं] सर्वसंग (सब ही परिग्रह) तथा सब लौकिक जनों की संगति से रहित है और [ण परावेक्खं] मोक्ष के प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजन की अपेक्षा रहित [लिंगं] लिंग को [जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं] जो माने / श्रद्धान करे उस जीव के सम्यक्त्व होता है ।

मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥92॥
सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥93॥
सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥94॥
जो लाज-भय से नमें कुत्सित लिंग कुत्सित देव को ।
और सेवें धर्म कुत्सित जीव मिथ्यादृष्टि वे ॥९२॥
अरे रागी देवता अर स्वपरपेक्षा लिंगधर ।
व असंयत की वंदना न करें सम्यग्दृष्टिजन ॥९३॥

जिनदेव देशित धर्म की श्रद्धा करें सद्दृष्टिजन ।
विपरीतता धारण करें बस सभी मिथ्यादृष्टिजन ॥९४॥
अन्वयार्थ : [कुच्छियदेवं] कुत्सित देव (कुदेव) [धम्मं कुच्छियलिंगं च] कुत्सित धर्म (कुधर्म) और कुत्सित लिंग (कुलिंग) की [लज्जाभयगारवदो] लज्जा, भय, गारव आदि कारणों से [बंदए जो दु] जो इनकी वंदना करता है [मिच्छादिट्ठी हवे सो हु] वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है ।
[सपरावेक्खं लिंगं] स्वपरापेक्ष (लौकिक प्रयोजन -- स्वापेक्ष, पर की अपेक्षा -- परापेक्ष) लिंग की [राई देवं] रागी देव की और [असंजयं वंदे] संयम-रहित की वंदना करे, [मण्णइ] माने, श्रद्धान करे वह [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि है, [ण हु] नहीं [मण्णइ] मानता है [सुद्धसम्मत्तो] वह शुद्ध सम्यक्त्वी है ।
[सम्माइट्ठी] सम्यग्दृष्टि [सावय] श्रावक [जिणदेवदेसियं] जिनदेव से उपदेशित [धम्मं] धर्म का पालन [कुणदि] करता है [विवरीयं] विपरीत [कुव्वंतो] करे [मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो] उसे मिथ्यादृष्टि जानना ।

मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥95॥
अरे मिथ्यादृष्टिजन इस सुखरहित संसार में ।
प्रचुर जन्म-जरा-मरण के दुख हजारों भोगते ॥९५॥
अन्वयार्थ : जो [मिच्छादिट्ठी जीवो] मिथ्यादृष्टि जीव है [सो] वह [जम्मजरमरणपउरे] जन्म-जरा-मरण से प्रचुर और [दुक्खसहस्साउले] हजारों दुःखों से व्याप्त इस [संसारे] संसार में [सुहरहिओ] सुखरहित (दुःखी) होकर [संसरेइ] भ्रमण करता है ।

सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥96॥
जानकर सम्यक्त्व के गुण-दोष मिथ्याभाव के ।
जो रुचे वह ही करो अधिक प्रलाप से है लाभ क्या ॥९६॥
अन्वयार्थ : [सम्म गुण] सम्यक्त्व के गुण और [मिच्छ दोसो] मिथ्यात्व के दोषों [तं] का [मणेण] मनन कर और [जं ते मणस्स रुच्चइ] जो अपने मन को रुचे / प्रिय लगे [परिभाविऊण] सोच-समझकर [कुणसु] कर, [किं बहुणा पलविएणं तु] बहुत प्रलापरूप कहने से क्या साध्य है ?

यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥97॥
छोड़ा परिग्रह बाह्य मिथ्याभाव को नहिं छोड़ते ।
वे मौन ध्यान धरें परन्तु आतमा नहीं जानते ॥९७॥
अन्वयार्थ : [बाहिरसंगविमुक्को] बाह्य परिग्रह छोड़कर [ण वि मुक्को मिच्छभाव] मिथ्याभाव को नहीं छोडकर [णिग्गंथो] निर्ग्रन्थ होकर [ठाणमउणं] मौन खड़े रहने में [किं तस्स] क्या साध्य है ? तू [ण वि जाणदि अप्पसमभावं] आत्मा का समभाव (वीतराग परिणाम) नहीं जानता है ।

मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ?

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू

सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियद ॥98॥
मूलगुण उच्छेद बाह्य क्रिया करें जो साधुजन ।
हैं विराधक जिनलिंग के वे मुक्ति-सुख पाते नहीं ॥९८॥

अन्वयार्थ : [मूलगुणं छित्तूण] मूलगुण छेदनकर (बिगाड़कर) [य] और [बाहिरकम्मं] बाह्य-क्रिया [करेइ जो साहू] करता है वह साधु [जिणलिंगविराहगो णियद] निश्चय से जिनलिंग का विराधक है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं करता ।

आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥99॥
जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥100॥
आत्मज्ञान बिना विविध-विध विविध क्रिया-कलाप सब ।
और जप-तप पद्म-आसन क्या करेंगे आत्महित ॥९९॥
यदि पढ़े बहुश्रुत और विविध क्रिया-कलाप करे बहुत ।
पर आत्मा के भान बिन बालाचरण अर बालश्रुत ॥१००॥

अन्वयार्थ : [आदसहावस्स विवरीदो] आत्म-स्वभाव से विपरीत को [किं काहिदि बहिकम्मं] बाह्यकर्म क्या करेगा ? [किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु] बहुत अनेक प्रकार श्रमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? [किं काहिदि आदावं] आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करेगा ?

[अप्पस्स विवरीदं] आत्म-स्वभाव से विपरीत [जदि पढदि बहु सुदाणि] यदि बहुत शास्त्रों को पढ़े [य] और [जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं] यदि बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करे तो [तं बालसुदं चरणं] वह सब ही बाल-श्रुत और बाल-चारित्र [हवेइ] होता है ।

ऐसा साधु मोक्ष पाता है

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥101॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥102॥
निजसुख निरत भवसुख विरत परद्रव्य से जो परान्मुख ।
वैराग्य तत्पर गुणविभूषित ध्यान धर अध्ययन सुरत ॥१०१॥
आदेय क्या है हेय क्या - यह जानते जो साधुगण ।
वे प्राप्त करते थान उत्तम जो अनन्तानन्दमय ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [वेरग्गपरो] वैराग्य में तत्पर [य] और [परदव्वपरम्मुहो जो होदि] पर-द्रव्य से पराङ्मुख होता है वह [साहु] साधु [संसारसुहविरत्तो] संसार-सुख से विरक्त हो, [सगसुद्धसुहेसु] अपने आत्मीक शुद्ध (कषायों के क्षोभ से रहित) सुख में [अणुरत्तो] अनुरक्त (लीन) होता है ।

जो [साहू] साधु [गुणगणविहूसियंगो] मूलगुण, उत्तरगुणों से आत्मा को अलंकृत / शोभायमान किये हो, [हेयोपादेयणिच्छिदो] हेय-उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, [झाणज्झयणे] ध्यान और अध्यन में [सुरदो] भली प्रकार लीन [सो पावइ उत्तमं ठाणं] वह उत्तम-स्थान (मोक्ष) पाता है ।

सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥103॥
जिनको नमे थुति करे जिनकी ध्यान जिनका जग करे ।
वे नमें ध्यावें थुति करें तू उसे ही पहिचान ले ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [णविएहिं जं णविज्जइ] नमन करने योग्य जिसे नमन करते हैं [झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं] ध्यान करने योग्य जिसका अनवरत ध्यान करते हैं [थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ] स्तुति करने योग्य जिसकी स्तुति करते हैं [देहत्थं] देह में स्थित [किं पि तं मुणह] ऐसा क्या है उसे जानो ।

आत्मा ही मुझे शरण है

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥104॥
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तव चेव
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥105॥
अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु हैं परमेष्ठी पण ।
सब आतमा की अवस्थायें आत्मा ही है शरण ॥१०४॥
सम्यक् सुदर्शन ज्ञान तप समभाव सम्यक् आचरण ।
सब आतमा की अवस्थायें आत्मा ही है शरण ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [अरुहा] अर्हन्त, [सिद्धायरिया] सिद्ध, आचार्य [उज्झाया] उपाध्याय और [साहु] साधु ये [पंच परमेट्ठी] पंच परमेष्ठी हैं [ते वि हु चिट्ठहि आदे] वे भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिये मेरी आत्मा ही मुझे शरण है ।
[सम्मत्तं] सम्यग्दर्शन, [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान, [सच्चारित्तं] सम्यक्चारित्र [च] और [सत्तव] सम्यक् तप [एव] भी, ये [चउरो] चारों (आराधना) [चिट्ठहि आदे] आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिए मेरे आत्मा ही मुझे शरण है ॥१०५॥

मोक्षपाहुड़ पढ़ने, सुनने, भाने का फल कहते हैं

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥106॥
जिनवर कथित यह मोक्षपाहुड जो पुरुष अति प्रीति से ।
अध्ययन करें भावें सुनें वे परमसुख को प्राप्त हों ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनदेव के कहे हुए [मोक्खस्स य पाहुडं] मोक्षपाहुड़ को [सुभत्तीए] भक्तिभाव से [जो पढइ] जो पढ़ते हैं, [सुणइ] सुनते हैं, [भावइ] चिंतवनरूप भावना करते हैं [सो पावइ सासयं सोक्खं] वे शाश्वत सुख (मोक्ष) पाते हैं ।

इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥1॥
कर नमन श्री अरिहंत को सब सिद्ध को करके नमन ।
संक्षेप में मैं कह रहा हूँ, लिंगपाहुड शास्त्र यह ॥१॥

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि मैं [अरहंताणं] अरहन्तों को और [तहेव] वैसे ही [सिद्धाणं] सिद्धों को [णमोकारं] नमस्कार [काऊण] करके तथा जिसमें [समणलिंगं] श्रमणलिंग का निरूपण है इस प्रकार [पाहुडसत्थं] पाहुडशास्त्र को [समासेण] संक्षेप में [वोच्छामि] कहूँगा ।

बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥2॥
धर्म से हो लिंग केवल लिंग से न धर्म हो ।
समभाव को पहिचानिये द्रवलिंग से क्या कार्य हो ॥२॥

अन्वयार्थ : [धम्मेण] धर्म से [लिंगं] लिंग [होइ] होता है परन्तु [लिंगमत्तेण] लिंग मात्र ही से [धम्मसंपत्ती] धर्म की प्राप्ती [ण] नहीं है, इसलिये हे भव्य-जीव ! तू [भावधम्मं] भाव-रूप धर्म को [जाणेहि] जान और केवल [लिंगेण] लिंग ही से [ते] तेरा [किं] क्या [कायव्वो] कार्य होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं होता है ।

निर्ग्रंथ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं
उवहसदि लिंगिभावं लिंगिम्मिय णारदो लिंगी ॥3॥
परिहास में मोहितमती धारण करें जिनलिंग जो ।
वे अज्ञजन बदनाम करते नित्य जिनवर लिंग को ॥३॥

अन्वयार्थ : जो [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर देव के [लिंगं] लिंग नग्न दिगम्बर-रूप को [घेत्तूण] ग्रहण करके [लिंगिभावं] लिंगीपने के भाव को [उवहसदि] उपहसता है -- हास्यमात्र समझता है [लिंगी] वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी [पावमोहिदमदी] बुद्धि पाप से मोहित है वह [णारदो] नारद जैसा है ।

लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥4॥
जो नाचते गाते बजाते वाद्य जिनवर लिंगधर ।
हैं पाप मोहितमती रे वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ॥४॥

अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग-रूप करके [णच्चदि] नृत्य करता है, [गायदि] गाता है, [तावं] एवं [वायं] वादित्र [वाएदि] बजाता है सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि है, पशु है, [ण सो समणो] श्रमण नहीं है ।

फिर कहते हैं

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥5॥
जो आर्त होते जोड़ते रखते रखाते यत्न से ।
वे पाप मोहितमती हैं वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ॥५॥

अन्वयार्थ : जो निर्ग्रंथ लिंग धारण करके परिग्रह को [सम्मूहदि] संग्रह-रूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की [रक्खेदि] रक्षा करता है उसका [बहुपयत्तेण] बहुत यत्न करता है, उसके लिये [अट्टंझाएदि] आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि है, पशु है, [ण सो समणो] वह श्रमण नहीं है ।

फिर कहते हैं

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥6॥

अर कलह करते जुआ खेलें मानमंडित नित्य जो ।
वे प्राप्त होते नरकगति को सदा ही जिन लिंगधर ॥६॥

अन्वयार्थ : जो लिंगी [बहुमाणगव्विओ] बहुत मान कषाय से गर्वमान हुआ [णिच्चं] निरंतर [कलहं] कलह करता है, [वादं] वाद करता है, [जूवा] द्यूत-क्रीड़ा करता है वह पापी [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

फिर कहते हैं

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥7॥
जो पाप उपहत आत्मा अब्रह्म सेवें लिंगधर ।
वे पाप मोहितमती जन संसारवन में नित भ्रमें ॥७॥

अन्वयार्थ : [लिंगिरूवेण] लिंग धारण करके [पाओ] पाप से [उपहत] घात किया गया है आत्म-भाव जिसने [य] और अब्रह्म का [सेवदी] सेवन करता है [सो] वह [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला [संसार] संसार-रूपी [कंतारे] वन में [हिंडदि] भ्रमण करता है ।

फिर कहते हैं

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण
अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥8॥
जिनलिंगधर भी ज्ञान-दर्शन-चरण धारण ना करें ।
वे आर्तध्यानी द्रव्यलिंगी नंत संसारी कहे ॥८॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [लिंगरूवेण] लिंगरूप करके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र को तो [उवहाणे] उपधान-रूप [ण] नहीं किये (धारण नहीं किये) और [अट्टं झायदि झाणं] आर्त्तध्यान को ध्याता है तो [अणंतसंसारिओ] अनन्त-संसारी [होदि] होता है ।

यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥9॥
रे जो करावें शादियाँ कृषि वणज कर हिंसा करें ।
वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥९॥

अन्वयार्थ : जो गृहस्थों के परस्पर [विवाहं] विवाह [जोडेदि] जोड़ता है -- सम्बन्ध कराता है, [किसिकम्म] कृषि-कर्म, [वणिज्ज] व्यापार [च] और [जीवघादं] जीव-घात अर्थात् वैद्यकर्म के लिये जीवघात करना अथवा धीवरादि का कार्य, इन कार्यों को करता है वह [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

फिर कहते हैं

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥10॥
जो चोर लाबर लड़ावें अर यंत्र से क्रीडा करें ।
वे लिंगधर ये पाप कर जावें नियम से नरक में ॥१०॥

अन्वयार्थ : जो [चोराण] चोरों के [च] और [लाउराण] झूठ बोलने वालों के [जुद्ध] युद्ध [च] और [विवादं] विवाद कराता है और [तिव्वकम्मेहिं] तीव्र-कर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तीव्र कषायों के कार्यों से तथा [जंतेण] यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा,

हिंदोला आदि से क्रीडा् करता रहता है, वह लिंगी [णरयवासं] नरक [गच्छदि] जाता है ।

लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है

दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्मम्मि

पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥11॥

ज्ञान-दर्शन-चरण तप संयम नियम पालन करें ।

पर दु:खी अनुभव करें तो जावें नियम से नरक में ॥११॥

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र में, [तव] तप, [संजम] संयम, [णियम] नियम [णिच्चकम्मम्मि] नित्य-कर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रिया, इन क्रियाओं को करता हुआ [वट्टमाणो] वर्तमान में [पीडयदि] दुःखी होता है वह लिंगी [णरयवासं] नरकवास [पावदि] पाता है ।

जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं

मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥12॥

कन्दर्प आदि में रहें अति गृद्धता धारण करें ।

हैं छली व्याभिचारी अरे ! वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [भोयणेसु] भोजन में भी [रसगिद्धिं] रस की गृद्धि अर्थात् अति आसक्तता को [करमाणो] करता रहता है वह [कंदप्पाइय] कंदर्प आदिक में [वट्टइ] वर्तता है, [मायी] मायवी अर्थात् कामसेवन के लिये अनेक छल करना विचारता है, [लिंगविवाई] लिंग को दूषित करता है [सो] वह [तिरिक्खजोणी] तिर्यंचयोनि है, [ण सो समणो] श्रमण नहीं है ।

इसी को विशेषरूप से कहते हैं

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुञ्जदे पिंडं

अवरपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥13॥

जो कलह करते दौड़ते हैं इष्ट भोजन के लिये ।

अर परस्पर ईर्षा करें वे श्रमण जिनमार्गी नहीं ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी पिंड अर्थात् [पिंडणिमित्तं] आहार के निमित्त [धावदि] दौड़ता है, आहारके निमित्त [कलहं] कलह [काऊण] करके [भुञ्जदे पिंडं] आहार को भोगता है, खाता है, और उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्षा करता है [सो समणो] वह श्रमण [जिणमग्गि] जिन-मार्गी [ण] नहीं [होइ] है ।

फिर कहते हैं

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं

जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥14॥

बिना दीये ग्रहें परनिन्दा करें जो परोक्ष में ।

वे धरें यद्यपि लिंगजिन फिर भी अरे वे चोर हैं ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [अदत्तदाणं] बिना दिया तो दान [गिण्हदि] लेता है [च] और [परोक्खदूसेहिं] परोक्ष पर के दूषणों से [परणिंदा] पर की निंदा करता है [सो] वह [समणो] श्रमण [जिणलिंगं] जिनलिंग को [धारंतो] घारण करता हुआ भी [चोरेण] चोर के समान [होइ] है ।

जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण

इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥15॥
ईर्या समिति की जगह पृथ्वी खोदते दौड़ें गिरें ।
रे पशूवत उठकर चलें वे श्रमण नहिं तिर्यंच हैं ॥१५॥
अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग रूप से [इरियावह] ईर्या-पथ [धारंतो] धारण कर भी, [उप्पडदि] उछले, [पडदि] गिर पड़े, फिर उठकर [धावदि] दौड़े और [पुढवीओ] पृथ्वी को [खणदि] खोदे, [सो] वह [समणो] श्रमण नहीं [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि / पशु है ।

लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥16॥
जो बंधभय से रहित पृथ्वी खोदते तरु छेदते ।
अर हरित भूमि रोंधते वे श्रमण नहीं तिर्यंच हैं ॥१६॥
अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [बंधो] बंध को नहीं [णिरओ संतो] गिनता हुआ [सस्सं] अनाज को [खंडेदि] कूटता है [तह य] और वैसे ही [वसुहंपि] पृथ्वी को भी खोदता है तथा [बहुसो] बारबार [तरुगण] वृक्षों के समूह को [छिंददि] छेदता है, [सो] ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि है, पशु है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥17॥
राग करते नारियों से दूसरों को दोष दें ।
सद्ज्ञान-दर्शन रहित हैं वे श्रमण नहिं तिर्यंच है ॥१७॥
अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावग्गं] स्त्रियों के समूह के प्रति तो [रागं करेदि णिच्चं] निरंतर राग-प्रीति करता है और [परं] अन्य को [दूसेदि] दोष लगाता है वह [दंसणणाणविहीणो] दर्शन-ज्ञान रहित है, ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि है, पशु समान है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

फिर कहते हैं

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥18॥
श्रावकों में शिष्यगण में नेह रखते श्रमण जो ।
हीन विनयाचार से वे श्रमण नहीं तिर्यंच हैं ॥१८॥
अन्वयार्थ : जो लिंगी [पव्वज्जहीणगहिणं] दीक्षा-रहित गृहस्थों पर और [सीसम्मि] शिष्यों में [बहुसो] बहुत [णेहं] स्नेह [वट्टदे] रखता है और [आयार] आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और [विणयहीणो] गुरुओं के विनय से रहित होता है [सो] वह [समणो] श्रमण नहीं है [तिरिक्खजोणी] तिर्यंच-योनि है, पशु है ।

उपसंहार

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥19॥
इस तरह वे भ्रष्ट रहते संयतों के संघ में ।
रे जानते बहुशास्त्र फिर भी भाव से तो नष्ट हैं ॥१९॥
अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति [सहिओ] सहित [मुणिवर] मुनिवर [संजदमज्झम्मि] संयमियों के मध्य भी [णिच्चं] निरन्तर

[वट्टदे] रहता है और [बहुलं] बहुत शास्त्रों को [अपि] भी [जाणमाणो] जानता है तो भी [सो] वह [भावविणट्ठो] भावों से नष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध

दंसणणाणचरित्ते महिलावगम्मि देदि वीसट्ठो
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥20॥
पार्श्वस्थ से भी हीन जो विश्वस्त महिलावर्ग में ।
रत ज्ञान-दर्शन-चरण दें वे नहीं पथ अपवर्ग हैं ॥२०॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावगम्मि] स्त्रियों के समूह में उनका [वीसट्ठो] विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र को [देदि] देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढा़ना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न करके उनमें प्रवर्तता है [सो] वह ऐसा लिंगी तो [पासत्थ] पार्श्वस्थ से [वि] भी [णियट्ठो] निकृष्ट है, प्रगट [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

फिर कहते हैं

पुंच्छलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥21॥
जो पुंश्चली के हाथ से आहार लें शंशा करें ।
निज पिंड पोसें वालमुनि वे भाव से तो नष्ट हैं ॥२१॥

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी [पुंच्छलि] व्यभिचारिणी स्त्री के [घरि] घर [भुञ्जइ] भोजन लेता है, आहार करता है और [णिच्चं] नित्य उसकी [संथुणदि] स्तुति करता है [पिंडं] शरीर को [पोसए] पालता है वह ऐसा लिंगी [बालसहावं] बाल-स्वभाव को [पावदि] प्राप्त होता है, [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [ण सो सवणो] वह श्रमण नहीं है ।

जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं
पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥22॥
सर्वज्ञ भाषित धर्ममय यह लिंगपाहुड जानकर ।
अप्रमत्त हो जो पालते वे परमपद को प्राप्त हों ॥२२॥

अन्वयार्थ : [इय] इस प्रकार इस [लिंगपाहुडमिणं] लिंगपाहुड शास्त्र का, [सव्वंबुद्धेहिं] सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने, [देसियं] उपदेश दिया है, उसको जानकर जो मुनि [धम्मं] धर्म को [कट्ठसहियं] कष्ट-सहित बड़े यत्न से [पालेइ] पालता है, रक्षा करता है [सो] वह [उत्तमं ठाणं] उत्तम-स्थान / मोक्ष को [गाहदि] पाता है ।

नमस्काररूप मंगल

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं
तिविहेण पणमिऊण सीलगुणाणं णिसामेह ॥1॥
विशाल जिनके नयन अर रक्तोत्पल जिनके चरण ।
त्रिविध नम उन वीर को मैं शील गुण वर्णन करूँ ॥१॥

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि [विसालणयणं] केवलदर्शन केवलज्ञान रूप विशालनयन हैं जिनके, [रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं] चरण रक्त कमल के समान कोमल हैं जिनके, ऐसे [वीरं] अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी परम भट्टारक को [तिविहेण] मन वचन काय से [पणमिऊण] नमस्कार करके [सीलगुणाणं] शील अर्थात् निज-भावरूप प्रकृति उसके गुणों को अथवा शील

और सम्यग्दर्शनादिक गुणों को [णिसामेह] कहूँगा ।

शील का रूप

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्दिट्ठो
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥2॥
शील एवं ज्ञान में कुछ भी विरोध नहीं कहा ।
शील बिन तो विषयविष से ज्ञानधन का नाश हो ॥२॥

अन्वयार्थ : [सीलस्स] शील के [य] और [णाणस्स] ज्ञान के, [बुधेहिं] ज्ञानियों ने [विरोहो] विरोध [णत्थि] नहीं [णिद्दिट्ठो] कहा है [च] और [णवरि] विशेष है वह कहते हैं -- [शीलेन] शील के [विणा] बिना [विसया] इन्द्रियों के विषय हैं वह [णाणं] ज्ञान को [विणासंति] नष्ट करते हैं ।

ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ

दुक्खे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥3॥
बड़ा दुष्कर जानना अर जानने की भावना ।
एवं विरक्ति विषय से भी बड़ी दुष्कर जानना ॥३॥

अन्वयार्थ : प्रथम तो [णाणं] ज्ञान ही [दुक्खे] दुःख से [णज्जदि] प्राप्त होता है, कदाचित् [णाणं] ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको [णाऊण] जानकर उसकी [भावणा] भावना करना, बारंबार अनुभव करना [दुक्खं] दुःख से (दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थसे) होता है और कदाचित् [भावियमई] ज्ञान की भावना सहित भी [जीवो] जीव हो जावे तो [विसयेसु] विषयों को [दुक्खं] दुःख से [विरज्जए] त्यागता है ।

विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो
विसए विरत्तमेत्ते ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥4॥
विषय बल हो जबतलक तबतलक आतमज्ञान ना ।
केवल विषय की विरक्ति से कर्म का हो नाश ना ॥४॥

अन्वयार्थ : [जाव] जब तक यह [जीवो] जीव [विसयबलो] विषयों के वशीभूत [वट्टए] रहता है [ताव] तब तक [णाणं] ज्ञान को [ण] नहीं [जाणदि] जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल [विसए] विषयों में [विरत्तमेत्ते] विरक्तिमात्र ही से [पुराइयं] पहिले बँधे हुए [कम्मं] कर्मों का [खवेइ] क्षय [ण] नहीं करता है ।

ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥5॥
दर्शन रहित यदि वेष हो चारित्र विरहित ज्ञान हो ।
संयम रहित तप निरर्थक आकास-कुसुम समान हो ॥५॥

अन्वयार्थ : [ज्ञान] ज्ञान यदि [चरित्तहीणं] चारित्ररहित हो [च] और [लिंगग्गहणं] लिंग का ग्रहण यदि [दंसणविहूणं] दर्शनरहित हो [य] तथा [संजमहीणो] संयमरहित [तवो] तप भी निरर्थक है, इस प्रकार के [सव्व] सब [चरइ] आचरण [णिरत्थयं] निरर्थक हैं ।

ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं

संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥6॥
दर्शन सहित हो वेश चारित्र शुद्ध सम्यग्ज्ञान हो ।
संयम सहित तप अल्प भी हो तदपि सुफल महान हो ॥६॥
अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान तो [चरित्तसुद्धं] चारित्र से शुद्ध [च] और [लिंगग्गहणं] लिंग का ग्रहण [दंसणविसुद्धं] दर्शन से शुद्ध [च] तथा [संजमसहिदो] संयमसहित [तवो] तप [थोओवि] थोड़ा भी हो तो [महाफलो] महाफलरूप [होइ] होता है ।

विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्त ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढ़ा ॥7॥
ज्ञान हो पर विषय में हों लीन जो नर जगत में ।
रे विषयरत वे मूढ़ डोलें चार गति में निरन्तर ॥७॥
अन्वयार्थ : कई [णरा] पुरुष [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर भी [केई] कदाचित् [विसयाइभावसंसत्त] विषयरूप भावों में आसक्त होते हैं [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] विमोहित होने पर ये [मूढ़ा] मूढ़ / मोही [चादुरगदिं] चतुर्गति रूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे

जे पुण विसयविरत्त णाणं णाऊण भावणासहिदा
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्त ण संदेहो ॥8॥
जानने की भावना से जान निज को विरत हों ।
रे वे तपस्वी चार गति को छेदते संदेह ना ॥८॥
अन्वयार्थ : [पुण] और [जे] जो [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर [भावणासहिदा] भावना सहित [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त होते हैं, वे [तवगुणजुत्त] तप और गुण अर्थात् मूल-गुण उत्तर-गुण-युक्त होकर [चादुरगदिं] चतुर्गतिरूप संसार को [णसंदेहो] निसंदेह ही [छिंदंति] छेदते हैं ।

शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥9॥
जिसतरह कंचन शुद्ध हो खड़िया-नमक के लेप से ।
बस उसतरह हो जीव निर्मल ज्ञान जल के लेप से ॥९॥
अन्वयार्थ : [जह] जैसे [कंचणं] सुवर्ण [खडिय] सुहागा (खड़िया क्षार) और [लवणलेवेण] नमक के लेप से [विसुद्धं] विशुद्ध / निर्मल / कांतियुक्त [धम्मइयं] होता है [तह] वैसे ही [जीवो वि] जीव भी विषय-कषायों के मलरहित [विमलेण] निर्मल [णाणवि] ज्ञानरूप [सलिलेण] जल से प्रक्षालित होकर कर्मरहित [विसुद्धं] विशुद्ध होता है ।

विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥10॥
हो ज्ञानगर्भित विषयसुख में रमें जो जन योग से ।
उस मंदबुद्धि कापुरुष के ज्ञान का कुछ दोष ना ॥१०॥
अन्वयार्थ : [जे] जो पुरुष [णाणगव्विदा] ज्ञानगर्वित [होऊणं] होकर ज्ञानमद से [विसएसु] विषयों में [रज्जंति] रंजित होते हैं सो यह

[णाणस्स] ज्ञान का [दोसो] दोष [णत्थि] नहीं है, वे [कुप्पुरिसाणं] कुपुरुष [वि] ही [मंदबुद्धीणं] मंदबुद्धि हैं उनका दोष है ।

इसप्रकार निर्वाण होता है

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥11॥
जब ज्ञान, दर्शन, चरण, तप सम्यक्त्व से संयुक्त हो ।
तब आतमा चारित्र से प्राप्ति करे निर्वाण की ॥११॥

अन्वयार्थ : [णाणेण] ज्ञान का [दंसणेण] दर्शन का [य] और [तवेण] तप का [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व-भाव सहित [चरिएण] आचरण [होहदि] यदि हो तो [चरित्तसुद्धाणं] चारित्र से शुद्ध [जीवाण] जीवों को [परिणिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्तणं
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्तणं ॥12॥
शील रक्षण शुद्ध दर्शन चरण विषयों से विरत ।
जो आत्मा वे नियम से प्राप्ति करें निर्वाण की ॥१२॥

अन्वयार्थ : जिन पुरुषोंका [विसएसु] विषयों से [विरत्तचित्तणं] चित्त विरक्त है, [सीलं] शील की [रक्खंताणं] रक्षा करते हैं, [दंसणसुद्धाण] दर्शन से शुद्ध हैं और जिनका [दिढचरित्तणं] चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषों को [धुवं] नियम से [णिव्वाणं] निर्वाण [अत्थि] होता है ।

अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं
उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥13॥
सन्मार्गदर्शी ज्ञानि तो है सुज्ञ यद्यपि विषयरत ।
किन्तु जो उन्मार्गदर्शी ज्ञान उनका व्यर्थ है ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [इट्ठदरिसीणं] इष्ट मार्ग को दिखानेवाले ज्ञानी है और [विसएसु] विषयों से [मोहिदाणं] विमोहित हैं तो भी उनको [मग्गंपि] मार्ग की प्राप्ति [कहियं] कही है, परन्तु जो [उम्मग्गं] उन्मार्ग को [दरिसीणं] दिखानेवाले हैं [तेसिं] उनको तो [णाणं] ज्ञान की प्राप्ति भी [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

ज्ञान से भी शील की प्राथमिकता

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं
शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥14॥
यद्यपि बहुशास्त्र जाने कुमत कुश्रुत प्रशंसक ।
रे शीलव्रत से रहित हैं वे आत्म-आराधक नहीं ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [बहुविहाइं] बहुत प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं और [कुमयकुसुदपसंसा] कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले हैं वे [शीलवदणाणरहिदा] शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं [ते] वे इनके [आराधया] आराधक [ण] नहीं [होंति] होते हैं ।

शील बिना मनुष्य जन्म निरर्थक

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वलावण्णकंतिकलिदाणं
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥15॥

रूप योवन कान्ति अर लावण्य से सम्पन्न जो ।
पर शीलगुण से रहित हैं तो निरर्थक मानुष जनम ॥१५॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [जुव्व] यौवन अवस्था सहित हैं और [लावण्ण] लावण्य सहित हैं, शरीर की [कंतिकलिदाणं] कांति / प्रभा से मंडित हैं और सुन्दर [रूवसिरिगव्विदाणं] रूपलक्ष्मी संपदा से गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं, परन्तु वे यदि [सीलगुण] शील और गुणों से [वज्जिदाणं] रहित हैं तो उनका [मानुषं] मनुष्य [जन्म] जन्म [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं शीलं ॥16॥
व्याकरण छन्दरु न्याय जिनश्रुत आदि से सम्पन्नता ।
हो किन्तु इनमें जान लो तुम परम उत्तम शील गुण ॥१६॥

अन्वयार्थ : [वायरण] व्याकरण, [छंद] छंद, [वइसेसिय] वैशेषिक, [ववहार] व्यवहार, [णायसत्थेसु] न्यायशास्त्र / ये शास्त्र [च] और [सुदेसु] श्रुत अर्थात् जिनागम [तेसु] इनमें [श्रुतं] श्रुत अर्थात् जिनागम को जानकर भी, इनमें [शीलम्] शील हो वही [उत्तमं] उत्तम है ।

जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं

सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति
सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥17॥
शील गुण मण्डित पुरुष की देव भी सेवा करें ।
ना कोई पूछे शील विरहित शास्त्रपाठी जनों को ॥१७॥

अन्वयार्थ : जो [भवियाण] भव्यप्राणी [सीलगुणमंडिदाणं] शील और सम्यग्दर्शनादि गुण अथवा शील वही गुण उससे मंडित हैं उनका [देवा] देव भी [वल्लहा] वल्लभ / सहायक [होंति] होता है । जो [सुदपारयपउराणं] शास्त्र के पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं और [दुस्सीला] शीलगुण से रहित [णं] नहीं हैं, वे [लोए] लोक में [अप्पिला] न्यून हैं ।

शील सहित का मनुष्यभव में जीना सफल

सव्वे वि य परिहीणा रूवणिरूवा वि पडिदसुवया वि
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥18॥
हों हीन कुल सुन्दर न हों सब प्राणियों से हीन हों ।
हों वृद्ध किन्तु सुशील हों नरभव उन्हीं का सफल है ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [सव्वे] सब प्राणियों में [परिहीणा] हीन हैं, कुलादिक से न्यून हैं और [रूवणिरूवा] रूप से विरूप हैं सुन्दर नहीं है, [पडिदसुवया] अवस्था से सुन्दर नहीं हैं, वृद्ध हो गये हैं, परन्तु [जेसु] जिनमें [सीलं] शील [सुसीलं] सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिक की तीव्र आसक्तता नहीं है [तेसिं] उनका [माणुसं] मनुष्यपना [सुजीविदं] सुजीवित है, जीना अच्छा है ।

जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे
सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥19॥
इन्द्रियों का दमन करुणा सत्य सम्यक् ज्ञान-तप ।
अचौर्य ब्रह्मोपासना सब शील के परिवार हैं ॥१९॥

अन्वयार्थ : जीव-दया, [दम] इन्द्रियों का दमन, [सच्चं] सत्य, [अचोरियं] अचौर्य, [बंभचेरसंतोसे] ब्रह्मचर्य, संतोष, [सम्मद्दंसण] सम्यग्दर्शन, [णाणं] ज्ञान, [य] और [तओ] तप -- ये सब [सीलस्स] शील के [परिवारो] परिवार हैं ।

शील ही तप आदिक हैं

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य

सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥20॥

शील दर्शन-ज्ञान शुद्धि शील विषयों का रिपू ।

शील निर्मल तप अहो यह शील सीढ़ी मोक्ष की ॥२०॥

अन्वयार्थ : [सीलं] शील ही [विसुद्धं] निर्मल [तवो] तप है, [य] और [दंसणसुद्धी] दर्शन की शुद्धता है, [य] और [णाणसुद्धी] ज्ञान की शुद्धता है, शील ही [विसयाण] विषयों का [अरी] शत्रु है और शील ही [मोक्खस्स] मोक्ष की [सोवाणं] सीढ़ी है ।

विषयरूप विष महा प्रबल है

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं

सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥21॥

हैं यद्यपि सब प्राणियों के प्राण घातक सभी विष ।

किन्तु इन सब विषयों में है महादारुण विषयविष ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [विसदो] विषय सेवनरूपी विष [विसयलुद्ध] विषय-लुब्ध जीवों को विष देनेवाला है, [तह] वैसे ही [घोराणं] घोर / तीव्र [थावरजंगमाण] स्थावर-जंगम [सव्वेसिंपि] सब ही विष प्राणियों का [विणासदि] विनाश करते हैं तथापि इन सब विषों में [विसयविसं] विषयों का विष [दारुणं] उत्कृष्ट है / तीव्र [होई] है ।

विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो

विसयविसपरिहयाणं भमंति संसारकंतारे ॥22॥

बस एक भव का नाश हो इस विषम विष के योग से ।

पर विषयविष से ग्रसितजन चिरकाल भववन में भ्रमें ॥२२॥

अन्वयार्थ : [विसवेयणाहदो] विष की वेदना से नष्ट [जीवो] जीव तो एक [जम्मे] जन्म में [एक्कम्मि] एक [वारि] बार ही ही [मरिज्ज] मरता है परंतु [विसयविसपरिहया] विषय-रूप विष से नष्ट जीव अतिशयता / बारबार [संसारकंतारे] संसार-रूपी वन में [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दु:ख

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं

देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा ॥23॥

अरे विषयासक्त जन नर और तिर्यग् योनि में ।

दु:ख सहें यद्यपि देव हों पर दु:खी हों दुर्भाग्य से ॥२३॥

अन्वयार्थ : [विसयासिया] विषयों में आसक्त [जीवा] जीव [णरएसु] नरक में अत्यंत [वेयणाओ] वेदना पाते हैं, [तिरिक्खए] तिर्चंचों में तथा [माणवेसु] मनुष्यों में [दुक्खाइं] दुःखों को पाते हैं और [देवेसु] देवों में उत्पन्न हों वहाँ [वि] भी [दोहग्गं] दुर्भाग्यपना [लहंति] पाते हैं ।

विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि

तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥24॥

अरे कुछ जाता नहीं तुष उड़ाने से जिसतरह ।

विषय सुख को उड़ाने से शीलगुण उड़ता नहीं ॥२४॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [तुस] तुषों के [धम्मंतबलेण] चलाने से, उड़ाने से [णराण] मनुष्य का कुछ [दव्वं] द्रव्य [ण] नहीं [गच्छेदि] जाता है, वैसे ही [तवसीलमंत] तपस्वी और शीलवान् पुरुष [विसयं] विषयों रूपी [विस] विष की [खलं] खल को [कुसली] कुशलता से [खवंति] क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं ।

सब अंगों में शील ही उत्तम है

वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु

अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥25॥

गोल हों गोलार्द्ध हों सुविशाल हों इस देह के ।

सब अंग किन्तु सभी में यह शील उत्तम अंग है ॥२५॥

अन्वयार्थ : प्राणी के देह में कई [अंगेसु] अंग तो [वट्टेसु] गोल सुघट प्रशंसा योग्य होते हैं [य] और कई अंग [खंडेसु] अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग [भद्देसु] भद्र अर्थात् सरल सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग [विसालेसु] विस्तीर्ण चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार [सव्वेसु] सबही [अंगेसु] अंग यथास्थान शोभा [पप्पेसु] पाते हुए भी अंगों में यह [सीलं] शील नाम का अंग ही [उत्तमं] उत्तम है, यह न तो हो सब ही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है ।

विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रणम

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं

संसार भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥26॥

भव-भव भ्रमें अरहट घटीसम विषयलोलुप मूढजन ।

साथ में वे भी भ्रमें जो रहे उनके संग में ॥२६॥

अन्वयार्थ : जो [कुसमयमूढेहि] कुमत से मूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही [विसयलोलेहिं] विषयों में लोलुपी हैं / आसक्त हैं, वे जैसे [अरयघरट्टं] अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे ही [संसार] संसार में [भमिदव्वं] भ्रमण करते हैं, [पुरिसेण] उस पुरुष के [सहियाए] साथ [भूदेहिं] अन्य जनों के [व] भी संसार में दुःखसहित भ्रमण होता है ।

जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं

तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥27॥

इन्द्रिय विषय के संग पढ़ जो कर्म बाँधे स्वयं ही ।

सत्पुरुष उनको खपावे व्रत-शील-संयमभाव से ॥२७॥

अन्वयार्थ : [जा] जो [विसयरागरंगेहिं] विषयों के रागरंग करके [आदेहि] आप ही [कम्मगंठी] कर्म की गाँठ [बद्धा] बांधी है [तं] उसको [कयत्था] कृतार्थ पुरुष (उत्तम पुरुष) [तवसंजमसीलयगुणेण] तप संयम शील के द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उसके द्वारा [छिन्दन्ति] छेदते / खोलते हैं ।

जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं

उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं

सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्ते ॥28॥

ज्यों रत्नमंडित उदधि शोभे नीर से बस उसतरह ।

विनयादि हों पर आत्मा निर्वाण पाता शील से ॥२८॥

अन्वयार्थ : जैसे [उदधी] समुद्र [रदणभरिदो] रत्नों से भरा है तो भी जल-सहित शोभा पाता है, वैसे ही यह आत्मा

[तवविणयंसीलदाणरयणाणं] तप, विनय, शील, दान इन रत्नो में [ससीलो] शीलसहित [सोहेंतो] शोभने वाला, [अनुत्तरम्] जिससे आगे और नहीं है ऐसे, [णिव्वाणम्] निर्वाणपद को [पत्ते] प्राप्त करता है ।

जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं

सुणहाण गद्दहाण ण गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥29॥
श्वान गर्दभ गाय पशु अर नारियों को मोक्ष ना ।
पुरुषार्थ चौथा मोक्ष तो बस पुरुष को ही प्राप्त हो ॥२९॥
अन्वयार्थ : [सुणहाण] श्वान, [गद्दहाण] गर्दभ इनमें [च] और [गोवसुमहिलाण] गौ आदि पशु तथा स्त्री को [मोक्खो] मोक्ष होना [ण] नहीं [दीसदे] दिखता है । [जे] जो [चउत्थं] चतुर्थ (पुरुषार्थ) को [सोधंति] शोधते हैं उन्हीं के मोक्ष का होना [सव्वेहिं] सब [जणेहि] जन द्वारा [पिच्छिज्जंता] देखा जाता है ।

शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो
तो सो सच्चइपुत्ते दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥30॥
यदि विषयलोलुप ज्ञानियों को मोक्ष हो तो बताओ ।
दशपूर्वधारी सात्यकीसुत नरकगति में क्यों गया ॥३०॥
अन्वयार्थ : [जइ] यदि [विसयलोलएहिं] विषयों में लोलुप / आसक्त और [णाणीहि] ज्ञानी [हविज्ज] होकर [मोक्खो] मोक्ष [साहिदो] साधा हो तो [सो] वह [सच्चइपुत्ते] सात्यकि पुत्र (रूद्र) [दसपुव्वीओ] दश पूर्व को जाननेवाला रुद्र [णरयं] नरक में [किं] क्यों [गदो] गया ?

शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्दिट्ठो
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥31॥
यदि शील बिन भी ज्ञान निर्मल ज्ञानियों ने कहा तो ।
दशपूर्वधारी रूद्र का भी भाव निर्मल क्यों न हो ॥३१॥
अन्वयार्थ : [जइ] यदि [णाणेण] ज्ञान से [सीलेण] शील के [विणा] बिना [विसोहो] विशुद्धता [बुहेहिं] पंडितों ने [णिद्दिट्ठो] कही हो तो [पुणु] फिर [दसपुव्वियस्स] दश पूर्व को [भावो] जाननेवाले (रुद्र) के [णिम्मलो] निर्मलता [किं] क्यों [ण] नहीं [जादो] हुई ।

यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है

जाए विसयविरत्ते सो गमयदि णरयवेयणा पउरा
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥32॥
यदि विषयविरक्त हो तो वेदना जो नरकगत ।
वह भूलकर जिनपद लहे यह बात जिनवर ने कही ॥३२॥
अन्वयार्थ : [जाए] यदि [विसयविरत्ते] विषयों से विरक्त है [सो] वह जीव [पउरा] प्रचुर [णरयवेयणा] नरक वेदना को [गमयदि] गंवाता है (वेदना अल्प हो जाती है) [ता] वह, वहाँ से निकलकर, [अरुहपयं] अरहंत पद को [लेहदि] प्राप्त होता है ऐसा [जिणवड्ढमाणेण] जिन वर्द्धमान भगवान ने [भणियं] कहा है ।

इस कथन का संकोच करते हैं

एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं

सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥33॥

अरे! जिसमें अतीन्द्रिय सुख ज्ञान का भण्डार है ।

वह मोक्ष केवल शील से हो प्राप्त - यह जिनवर कहें ॥३३॥

अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार तथा [बहुप्पयारं] अन्य प्रकार (बहुत प्रकार) जिनके [पच्चक्खणाणदरसीहिं] प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शन पाये जाते हैं और [लोयणाणेहिं] जिनके लोक-अलोक का ज्ञान है ऐसे [जिणेहि] जिनदेव ने कहा है कि [सीलेण] शील से [अक्खातीदं] अक्षातीत / इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है, ऐसा [मोक्खपयं] मोक्षपद होता है ।

इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं

जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥34॥

ये ज्ञान दर्शन वीर्य तप सम्यक्त्व पंचाचार मिल ।

जिम आग ईंधन जलावे तैसे जलावें कर्म को ॥३४॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तणाणदंसणतववीरिय] सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-तप-वीर्य ये [पंचयार] पंच आचार हैं वे [अप्पाणं] आत्मा का आश्रय पाकर [पोरायणं] पुरातन [कम्मं] कर्मों को वैसे ही [डहंति] दग्ध करते हैं जैसे कि [पवणसहिदो] पवन सहित [जलणो] अग्नि पुराने सूखे ईँधन को दग्ध कर देती है ।

ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं

णिद्दड्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्त जिदिंदिया धीरा

तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्त ॥35॥

जो जितेन्द्रिय धीर विषय विरक्त तपसी शीलयुत ।

वे अष्ट कर्मों से रहित हो सिद्धगति को प्राप्त हों ॥३५॥

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने [जिदिंदिया] इन्द्रियों को जीत लिया है इसी से [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, और [धीरा] धीर हैं, परिषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, [तवविणयसीलसहिदा] तप, विनय, शील सहित हैं वे [णिद्दड्ढअट्ठकम्मा] अष्ट कर्मों को दूर करके [सिद्धिंगदिं] सिद्धगति जो मोक्ष उसको [पत्त] प्राप्त हो गये हैं, वे [सिद्धा] सिद्ध कहलाते हैं ।

जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं

लावण्यसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स

सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥36॥

जिस श्रमण का यह जन्म तरु सर्वांग सुन्दर शीलयुत ।

उस महात्मन् श्रमण का यश जगत में है फैलता ॥३६॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [सवणस्स] मुनि का [जम्ममहीरुहो] जन्मरूप वृक्ष [लावण्य] सर्व अंग सुन्दर तथा [सील] शील, इन दोनों में [कुसलो] प्रवीण / निपुण हो [सो] वे मुनि [सीलो] शीलवान् हैं, [स] वे महात्मा हैं, उनके [गुणवित्थरं] गुणों का विस्तार [भविए] लोक में [भमिज्ज] भ्रमता है, फैलता है ।

जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायत्तं

सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥37॥
ज्ञानध्यानरु योगदर्शन शक्ति के अनुसार हैं ।
पर रत्नत्रय की प्राप्ति तो सम्यक्त्व से ही जानना ॥३७॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान, [झाणं] ध्यान, [जोगो] योग, [दंसणसुद्धीय] दर्शन की शुद्धता ये तो [वीरियायत्तं] वीर्य के आधीन हैं [च] और [सम्मत्तदंसणेण] सम्यग्दर्शन से [जिणसासणे] जिनशासन में [बोहिं] बोधि को [लहंति] प्राप्त करते हैं, रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ।

यह प्राप्ति जिनवचन से होती है

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्त तवोधणा धीरा
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥38॥
जो शील से सम्पन्न विषय विरक्त एवं धीर हैं ।
वे जिनवचन के सारग्राही सिद्ध सुख को प्राप्त हो ॥३८॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचनों के [गहिदसारा] सार को ग्रहण कर [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, ऐसे [धीरा] धीर [तवोधणा] मुनि [सीलसलिलेण] शीलरूप जल से [ण्हादा] स्नानकर शुद्ध होकर [सिद्धालयसुहं] सिद्धालय के सुखों को [जंति] प्राप्त होते हैं ।

अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥39॥
सुख-दुख विवर्जित शुद्धमन अर कर्मरज से रहित जो ।
वह क्षीणकर्मा गुणमयी प्रकटित हुई आराधना ॥३९॥

अन्वयार्थ : [सव्वगुण] सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणों से जिसमें [खीणकम्मा] कर्म क्षीण हो गये हैं, [सुहदुक्खविवज्जिदा] सुख-दुःख से रहित हैं, [मणविसुद्धा] मन विशुद्ध हैं और जिसमें [कम्मरया] कर्मरूप रज को [पप्फोडिय] उड़ा दी है ऐसी [आराहणा] आराधना [पयडा] प्रगट [हवंति] होती है ।

ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥40॥
विषय से वैराग्य अर्हतभक्ति सम्यक्दर्श से ।
अर शील से संयुक्त ही हो ज्ञान की आराधना ॥४०॥

अन्वयार्थ : [अरहंते] अरहंत में [सुहभत्ती] शुभ भक्ति का होना [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है, वह [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुविसुद्धं] विशुद्ध है, [विसयविरागो] विषयों से विरक्त होना [सीलं] शील है और [णाणं] ज्ञान [केरिसं] क्या [पुण] इससे भिन्न [भणियं] कहा है ?